हरकोर्ट, ब्रेस एण्ड कं० न्यूयार्क, यू० एस० ए०
की अनुमति से
भारत में मुद्रित।

मूल पुस्तक का हिन्दी मे प्रथम अनुवाद।

प्रथम सस्करण—१९५७

प्रकाशक : जी० एल० मीरचंदानी, पर्ल पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड,
१२, वाटरलू मेन्शन, (रीगल सिनेमा के सामने), महात्मा गांधी रोड,
बम्बई-१

मुद्रक : मणिलाल टी० शाह,
लिपिका प्रेस, कुर्ला रोड, अंधेरी।

इस

कामना से

लिखित कि विश्व

के बच्चे एक दिन उन लोगों

को समझने की इच्छा लेकर बड़े

हों जिन्हें वे अभी जानते नहीं, और

वे एक दिन बड़े हों अपने

हृदय का सहज

विश्वास खोये

बिना।

अनुक्रम



एक

भारत के बारे में चर्चा

जुलाई १९५१ मे, जब मैं पन्द्रह वर्ष की थी, मुझे पहली बार मालूम हुआ कि शायद मुझे भारत जाना पड़े। मैं न्यू हैम्पशायर में गर्मियों की छुट्टियाँ बिता रही थी। एक दिन अपने घर के पोर्च में झूले पर पड़े-पड़े मैंने अखबार में पढा :

"भारत में बोल्स की नियुक्ति की सम्भावना"

मैं हैरान रह गयी। यह सही है कि वैदेशिक सेवा में मेरे पिता की नियुक्ति की सम्भावना कोई नयी बात न थी। बसन्त में उनके सामने किसी अन्य देश के राजदूत-पद का प्रस्ताव रखा जा चुका था। उन्हें भारत में राजदूत बनाने का प्रश्न भी हमारी छुट्टियाँ शुरू होने और मेरे हैम्पशायर को रवाना होने से पहले उठ चुका था। लेकिन इस सम्भावना को कोरी अफवाह समझकर मैंने इस विषय की पारिवारिक चर्चाओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। तभी अखबार में यह समाचार पढने को मिला, जिसे अफवाह हर्गिज नहीं माना जा सकता था। मुझे एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे पिता की नियुक्ति बहुत सम्भव है।

तुरन्त मेरे दिमाग में कई बातें घूम गयी। यदि मेरे पिता भारत गये तो क्या मेरे भाइयो, बहनो को और मुझे भी उनके साथ जाना पडेगा ? वहाँ अपना घर कैसा होगा ? क्या हमें वहाँ स्कूल जाने को मिलेगा ? इन सारे प्रश्नो का तब तक समाधान नहीं हुआ, जबतक कि मै छुट्टियो के बाद कनेक्टीकट के छोटे-से नगर एसेक्स में अपने घर वापस न आ गयी।

मेरे पिता को, जिन्हे लगभग सभी लोग चेट कहते हैं, काफी भरोसा था कि उनकी नियुक्ति निश्चित ही है। एशिया के विषय में उनको सदा से विशेष रुचि रही है और उनका दृढ विश्वास है कि विश्व का भावी इतिहास दक्षिण-पूर्व एशिया में लिखा जायेगा।

सितम्बर में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने चेट की नियुक्ति की घोषणा की। मेरी माँ,

मेरे भाइयो और वहनो तथा मुझपर कनेक्टीकट छोड़कर भारत जाने के विचार की अलग-अलग प्रतिक्रिया हुई। कालेज से ग्रेजुएट हो जाने के वाद कुछ साल पहले, मेरी माँ, भारत में कई सप्ताह रहकर आयी थी और वह फिर वहाँ जाने के लिए उत्सुक थीं। लेकिन चूँकि हमें पिछले कुछ वर्षों में कई वार यहाँ से वहाँ जाना पड़ा था, इसलिए माँ को खेद था कि मेरे छोटे भाई-वहन और मुझे, जिन्हे किसी जगह जमकर रहने का, कभी मौक़ा नहीं मिला था, फिर एक नयी जगह जाना पड़ेगा।

मेरे वडे भाई और वहन का, जिनके विवाह हो चुके थे, अपना काम और परिवार छोडकर जाना असम्भव था, किन्तु हमें जो अवसर मिला था, उससे दोनो ही को ईर्ष्या थी। मेरी छोटी वहन सैली, जो उस समय तेरह साल की थी, जाने के लिए उत्सुक थी और उसे उतनी ही उतावली थी, जितनी मेरे पिता को। मेरा छोटा भाई सैम, जो तव वारह साल का था, अपने स्कूल से खूव खुश था; लेकिन नये देश में, और वह भी ऐसे देश में, जहाँ उसे नये-नये खेल सीखने को मिलेंगे, जाने की वात ने उसके मन मे वड़ी उमंगे पैदा कर दी थी।

अपने परिवार में औरो की अपेक्षा मुझमें ही उत्साह की सवसे ज्यादा कमी थी। वास्तव में मेरा मन जाने का नही था; यद्यपि यह वात नही थी कि मैं भारत जाना ही नही चाहती थी; वल्कि मै अपने नगर, अपने स्कूल और अपने मित्रो को छोडना नही चाहती थी। पिछले ही वर्ष डेढ़ साल के वाद हम हार्ट-फोर्ड (कनेक्टीकट) से आये थे। मेरे पिता वहाँ के गवर्नर थे। सितम्वर में ही मेरा हाईस्कूल का प्रारम्भिक वर्ष शुरू हुआ था और अव मुझे स्थायित्व का अनुभव होने लगा था। मेरे मित्र भी वड़े अच्छे थे, इसलिए मैंने सोचा कि यदि मैं चली गयी तो मुझे उनकी मैत्री से वंचित होना पड़ेगा, जिसे मै वहुत मूल्यवान मानती थी।

साथ ही मैं यह भी जानती थी कि ऐसा अवसर शायद फिर कभी न मिलेगा। यदि मैंने न जाना ही तय किया तो वाद में मुझे पछताना पडेगा। उस पर मै यह भी महसूस कर रही थी कि जव वड़े भाग्य से मुझे यह अवसर मिला है, तव मुझे उत्साह का अनुभव करना ही चाहिए।

सौभाग्य से निर्णय मुझे नही करना पड़ा। मेरे माता-पिता ने मेरी दुविधा

देखकर मेरे बारे में खुद ही तय कर लिया। यह सत्य है कि बाद को मैंने उनके प्रति कृतज्ञता का अनुभव किया; किन्तु उस समय तो मुझे उनके निर्णय से निराशा ही हुई। एसेक्स के मेरे मित्रों ने मुझे बाद में बताया कि अपने जाने की बात मालूम होने के बाद से मैं बिल्कुल गुमसुम निर्जीव मूर्ति की तरह, उदासी की साक्षात् तस्वीर बनकर स्कूल आया करती थी। इस प्रकार मेरी भारत-यात्रा का श्रीगणेश शुभ ढग से नहीं हुआ।

मेरे पिता की नियुक्ति के लिए सिनेट की बहुमत से स्वीकृति आवश्यक थी। जब तक ९ अक्तूबर को मतदान नहीं हो गया, तब तक हमारे घर की दशा बिल्कुल अव्यवस्थित और अनिश्चित रही। अनेक चीजें बाँधनी थीं। हमारे कपड़े, हमारी किताबें, छोटा-मोटा फर्निचर, चीनी के बर्तन, बाइसिकलें और बाजे। इनमें से कुछ को तो जहाज़ से भेजना था और कुछ को हवाई पार्सल से। कुछ चीजें, जिनकी हमें रास्ते में जरूरत पड़ती, छोटे सूटकेसो में बन्द करने के लिए हमने अलग रख ली थीं। ट्रंकों, सूटकेसो, थैलो से सारा घर भरा पड़ा था। अक्सर सम्बन्धी और मित्र भी, सामान बँधवाने में मेरी माँ का हाथ बँटाने के लिए घर में बने रहते थे।

सामान बाँधने के इस काम के बीच-बीच में बाधा पडती रहती थी, क्योंकि हमें शारीरिक परीक्षा करवाने और टाइफायड, टाइफस, टिटेनस, हैजे, पीतज्वर आदि के टीके लगवाने के लिए डाक्टर के यहाँ भी जाना पड़ता था।

९ अक्तूबर की शाम को हमने सुना कि सिनेट के सदस्यो ने मेरे पिता की नियुक्ति पर स्वीकृति की मुहर लगा दी है। अब ट्रंकों और सूटकेसो को फिर से खोलने की सम्भावना मिट चुकी थी। लोगो से विदाई लेने का सचमुच समय आ गया था, और १३ अक्तूबर के लिए वायुयान में जो स्थान सुरक्षित कराये गये थे उनकी बात पक्की की जा सकती थी।

जब हमारा जाना निश्चित हो गया और अस्तव्यस्तता में कुछ कमी हो गयी तब मैं अक्सर देखती कि मेरी माँ, जिन्हें लगभग सभी स्टेब पुकारते हैं, भारत या एशिया के बारे में कोई न कोई पुस्तक पढ़ने में तल्लीन हैं। १९२७ की उनकी भारत-यात्रा की याद धुँधली हो गयी थी और वह नेहरूजी की 'मेरी कहानी', जान म्युएल लिखित 'इण्टरव्यू विद इण्डिया', लुई फिशर की 'गांधीजो

की जीवनी' तथा और दूसरी ऐसी पुस्तके पढती थी, जिनसे पिछली स्मृतियों को ताजा करने मे मदद मिली और आज के भारत का उन्हे परिचय मिला।

भारत पहुँचने तक जो थोड़ा-सा समय हमारे पास था उसमे हम सवने वहाँ के वारे में जितना हो सके उतना ज्ञान पुस्तके पढकर और अन्य मार्गो से प्राप्त करने का प्रयत्न किया। सैम, सैली और मुझको वहुत कम जानकारी थी। हाँ, हमने गाँधीजी के वारे में ज़रूर सुना था—जव १९४८ मे उनकी मृत्यु हुई थी और नेहरू के वारे में भी जव उन्होने भारत के नेता के रूप में उनका स्थान ग्रहण किया था। किन्तु व्रिटिश औपनिवेशिक दासता से दवे भारत के वारे में हमारा ज्ञान नही के वरावर था। वहाँ के स्वाधीनता-आन्दोलन के विपय में हमे कुछ मालूम नही था। १९४७ में, स्वराज्य मिलने के वाद भारत ने जो असाधारण प्रगति की उसके सम्वन्ध मे भी हमारी जानकारी नगण्य थी।

हमने वम्वई और कलकत्ता जैसे वडे शहरो के नाम सुन रखे थे, किन्तु हमें गाँवो का कुछ भी ज्ञान नही था। यह हमें वाद को ही मालूम हुआ कि भारत की आत्मा का निवास गाँवों में ही है।

हमने वहाँ की निर्धनता, वढ़ती हुई जनसख्या, लाखो लोगो की भुखमरी के वारे में तो सुना था; किन्तु भारत के उन नये नेताओ के वारे मे लगभग कुछ भी नही सुना था, जो उस निर्धनता को मिटाने के लिये कृतसंकल्प हैं। न हमे उन असंख्य ग्राम-सेवकों का ही कुछ पता था, जिन्हे भारतीय जनता के जीवन को सुधारने की सच्ची आशा है।

हमने भारत के साँपों और सँपेरो, साधुओ और महाराजाओं के वारे में सुन रखा था, जिनके विपय में अधिकतर अतिशयोक्ति का प्रयोग ही होता है।

हमने भारत की गर्मी और आँधियो के वारे में तो सुना था लेकिन हम उसकी वसंतमयी निरभ्र ऋतु से अपरिचित थे। लोगो ने वहाँ के रगविरंगे फूलो और चिडियो, उसके शान्तिपूर्ण गाँवो और इन सव के अतिरिक्त वहाँ के शालीन लोगो के वर्णन में वहुत कजूसी की थी।

सैली, सैम और मेरा यह सद्भाग्य था कि हमें भारत में जाने और यह पता लगाने का अवसर मिला कि भारत और एशिया के वारे में हमारा ज्ञान कितना अधूरा था। मेरा विचार है कि कोई ऐसा उपाय ज़रूर होना चाहिए जिनसे उन लाखो अमरीकियों की गलतफहमियाँ दूर की जा सकें, जिन्हें हमारे समान

अवसर मिलना सम्भव नही है । अमरीकी स्कूलो में एशियाई देशो का अध्ययन बढाना या अमरीका के ज्यादा से ज्यादा नगरो में भारतीय सूचना-कार्यालय और पुस्तकालय खोलना शायद ऐसे उपाय हो सकते हैं। क्योंकि यह छोटी-छोटी गलतफहमियाँ एकत्र हो कर अक्सर एक दूसरे को समझने के मार्ग में बाधा बनती हैं और इसके फलस्वरूप दुनिया के लोगो में अविश्वास और घृणा का विस्तार होता है।

अमरीका से रवाना होने के लगभग एक सप्ताह पूर्व हमें विदेश विभाग से जो साहित्य प्राप्त हुआ और जिसे "पोस्ट रिपोर्ट" (अग्रिम सूचना) कहते हैं, उसने भारत सम्बन्धी हमारी जानकारी को बढाया नही। यह रिपोर्ट भारत-स्थित अमरीकी दूतावास के लोगो द्वारा तैयार की गयी थी, और सभी कूटनीतिक अधिकारियो को भारत जाने से पहले भेजी जाती थी। शायद और सब बातो से ज्यादा यह रिपोर्ट यूरोप में बसे हुए संकीर्ण कूटनीतिक क्षेत्रो में भारत के बारे में यह भ्रांति उत्पन्न करती थी कि "उस देश में जा फँसना असुविधाजनक है।" उसमें भारत के जलवायु, भोजन, बीमारियो, सामाजिक रीतियो और कूटनीतिक शिष्टाचारो का वर्णन किया गया था, जो हमने आगे चलकर अनुभव किया कि बहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण है। उस रिपोर्ट में यह सलाह दी गयी थी कि भारत जानेवाले कैसे कपड़े, खाद्य-सामग्री और दवाइयाँ साथ ले जायें। इससे मेरे पिता का मन भी सैली, सैम और मुझे ले जाने के बारे में हिचकिचाने लगा। आगे चलकर हम अपनी शकाओ पर लज्जित हुए।

उस "पोस्ट रिपोर्ट" (अग्रिम सूचना) के साथ हमें नयी दिल्ली के उस बँगले की कुछ तस्वीरें भी मिली, जिसमें हमें रहना था। उन चित्रो से हमें, इसके सिवाय, और कुछ नही मालूम हुआ कि वह मकान इकमंजिला है; उसकी साज सज्जा अमरीकी घरो जैसी है, उसमें दीवानखाना है, भोजन का कमरा है, पुस्तकालय—ऑफिस है और तीन सोने के कमरे हैं।

इस प्रकार, भारत के बारे में किसी जानकारी के बिना, सिवाय उसके जो कि "पोस्ट रिपोर्ट" (अग्रिम सूचना) से हमें मिली थी और मेरे यही मनाते हुए कि मुझे घर न छोड़ना पड़े, मैं रोज स्कूल जाती; गुमसुम और अनमनी-

सी अपने मित्रो से उदास मन मिलती, घर आती और अपना कर्त्तव्य समझ कर सामान बाँधती। चलने के दिन—१३ अक्तूबर तक यही हाल रहा।

तेरह अक्तूबर की भोर अपने समस्त सौंदर्य तथा अरुणिमा के साथ उदित हुई। नीलाभ स्वच्छता के स्थान पर उस दिन आकाश तैरते हुए नन्हे वादलो के टुकड़ो से भरा था। धूप मे एक सुखद उष्णता थी। नवोदित सूर्य की किरणें, हमारे घर के चारो ओर घिरे हुए तथा नदी के किनारे पर उगे हुए वृक्षो की पत्तियो को लाल, पीले और गुलावी रग से अनुरजित करके पूर्ण आभा के साथ प्रकाशित हो रही थी। जलकुक्कुट का समूह वेदनापूर्ण राग निकालता हुआ सरिता के वक्ष पर उड़ रहा था तथा दक्षिणगामी 'ग्रेकल्स' मेरी खिडकी के पास वाले खेत मे वैठी हुई विश्रांति के पलो को गुंजित कर रही थी।

उस दिन सुवह आँख खुलने पर मैंने यही देखा और यही सुना। मैंने खाड़ी के पार सूर्यालोकित नगर पर दृष्टि डाली और सोचा—काश! मुझे उस नगर को, और अपने आसपास के सौन्दर्य को छोडना न पड़े।

प्रात.काल नौ वजे हमारा घर उन लोगों से भर गया जो विदा देने और शुभकामनाएँ प्रकट करने आये थे। हम सव ने यह प्रकट करने की कोशिश की कि आज का दिन और दिनों जैसा ही है। लेकिन मन ही मन हम जानते थे कि आज के दिन में एक विशेपता है। उस समय इतनी दूर जाने के अपने कौतूहल को दवा रखना वहुत ही कठिन था और मैं घर छोड़कर जाने की अपनी वेदना को छिपाने में कठिनाई का अनुभव कर रही थी।

ग्यारह वजे हमने विदा ली अपने मित्रों से और अपने पालतू कुत्ते और विल्लियों से। हमने अपना घर छोडा, जो नदी के किनारे था। हमने अपना नगर छोड़ा, जिसे एसेक्स कहते हैं और दो घटे तक मोटर-यात्रा के वाद तो हमारा राज्य कनेक्टीकट भी पीछे रह गया।

हवाई अड्डे पर पहुँचने से लेकर, चार वजे पेरिस के लिए अविराम उडान वाले वायुयान में रवाना होने तक, क्या-क्या वातें हुई और क्या-क्या हुआ, मुझे कुछ याद नहीं। मुझे वस इतना याद है कि हमने अपने सामान की जाँच की, अपने पासपोर्ट सम्हाले और अपने परिवार के उन लोगो और मित्रों मे,

जो हमारे साथ न्यूयार्क तक आये थे—अन्तिम वार मिले। जाने का समय हो गया था और हम सीढियों से चढ़कर वायुयान में पहुँच गये। थोड़ी ही देर में वायुयान वड़े शोर के साथ उड़ चला और हम अपने मित्रो तथा अपने घर से ऊँचे, वहुत ऊँचे, दूर, वहुत दूर होते गये।

पेरिस, जिनेवा, रोम, काहिरा, वसरा, ईराक, तहरान, सउदी अरव आदि जगहो पर हमारा जहाज थोडी थोडी देर ठहरा और फिर एक दिन आधी रात को जहाज की परिचारिका ने हमें सूचना दी कि अव हम वम्वई पहुँच रहे हैं।

दो

पहली झांकी

वम्वई की गर्म रात में हम जहाज से उतरे। हम थके हुए थे। कुछ रात वाकी थी। जिन लोगो को हमारे लिए उस घडी तक इन्तजार करना पड़ा था उनका हमने मुस्करा कर अभिवादन किया; लेकिन हमारी वह मुस्कराहट वहुत कुछ शुष्क थी। सैम, सैली और मेरी मुस्कराहट तो होटल जाने के लिए मोटर में सवार होते ही उसके अँधेरे में विलीन हो गयी। सोने के लिए कुछ घटो का समय हमारे पास था। नाश्ते के वाद दूतावास के हवाई-जहाज से हमें दिल्ली जाना था।

लगभग आधे घटे में हम हवाई अड्डे से, नगर में होते हुए वम्वई के वन्दरगाह पर स्थित अतिशय भीमकाय और भव्य ताजमहल होटल में पहुँच गये। घटो पहले से मैं भारत के प्रथम दर्शन के वारे में चिन्तन कर रही थी। आखिर कैसा होगा भारत ? मुझे उसके वारे में कुछ भी तो जानकारी नही थी। मै वार-वार उसकी दयनीय निर्धनता के वारे में सुन चुकी थी। मेरे लिए अत्यधिक निर्धनता एक तरह से अस्पष्ट और अवास्तविक-सी चीज थी; क्योकि मैंने उसे देखा तो था, लेकिन मेरा कभी उससे निकट का अनुभव नही हुआ था। यह विचार ही वड़ा डरावना था कि गरीवी का भयकर भार लोगो को ढोना पडता है और उनके साथ वच्चों को भी पिसना पड़ता है।

अन्त में, मैंने निश्चय किया कि मुझे सोचना बंद करके धीरज के साथ उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि हम किसी भी प्रकार की परिस्थिति के लिए तैयार हो तो हमको न तो आश्चर्य होता है और न निराशा।

इसलिए जब हम मूंज की चारपाइयों पर, दरियों पर और सीमेन्ट की नंगी सडको पर सोये हुए सैकडो स्त्री-पुरुषो और बच्चो के बीच से निकले तो मुझे बहुत अधिक आश्चर्य नहीं हुआ।

उस रात को गर्मी बेहद थी और मैं इस नतीजे पर पहुँची कि घर की बंद दीवारो मे घुटने के बजाय बाहर सोने में ज्यादा ठडक मिलती है। किन्तु बड़े-बडे घर कहीं-कहीं ही दिखलाई पड रहे थे और जो सैकड़ों लोग सो रहे थे उनके लिए अपर्याप्त थे। यहाँ तक कि सड़क के किनारे-किनारे बनी हुई झोपड़ियाँ भी उन सब के लिए पूरी नहीं पड़ सकती थी। तब मैंने समझा कि बहुतों के पास न सडको के सिवाय कोई घर है, न फुटपाथ के सिवाय कोई बिछौना और न आकाश के सिवाय कोई छत।

लेकिन मैं थकी हुई थी, इसलिए जो गरीबी हमने उस रात देखी थी उसके बारे में ज्यादा देर न सोच सकी और न इस बारे में कि हमारे ठहरने के होटल जैसा ऐश्वर्य और इतनी ज्यादा गरीबी का अस्तित्व एक साथ कैसे हो सकता है?

ताजमहल होटल बम्बई के बन्दरगाह पर बना विक्टोरिया शैली का एक भव्य प्रासाद है। नगे पर रहनेवाले नौकरो ने चौड़े संगमरमर के बरामदे से होकर हमें हमारे ऊँचे-ऊँचे विशाल कमरों में पहुँचाया। खिडकी के मार्ग से चाँदनी से आलोकित बन्दरगाह पर विहंगम दृष्टि डाल कर हम सब सो गये।

चार घण्टे की नीद ने हमें बिलकुल तरोताज़ा कर दिया। दिन में भी ताजगी थी। चमकते हुए गर्म सूर्य की किरणे बन्दरगाह की छोटी-छोटी लहरों पर झिलमिला रही थीं और हमारी खिड़की के नीचे लगे, बगीचे के फूलो का रग निखार रही थीं। सडक में जीवन और जाग्रति आ गयी थी, और वह प्रातःकालीन कार्यशीलता से चचल हो उठी थी।

नाश्ता करके हम उसी रास्ते से हवाई अड्डे को लौटे, जिस पर कुछ घण्टे पहले ही हम निकल चुके थे। निर्धनता तो अब भी थी, लेकिन वह मनहूसियत, वह सन्नाटा, वह रात की दम घोटनेवाली शून्यता खतम हो चुकी थी; उसी जगह एक प्रकार की हलचल, ताजगी और लोगों की दौड़-धूप शुरू हो गयी थी।

बातचीत, हँसी-खुशी और शोरगुल ने रात के सन्नाटे का स्थान ले लिया था और जो मनहूसियत हमने थोड़ी देर पहले देखी थी उसका स्थान ले लिया था—रगबिरंगी साड़ियो की चमक और तडक-भडक ने, जिन्हे महिलाएँ बड़े आकर्षक ढग से पहिने थी।

पैदल चलने की पटरियो पर, जिन्हे हम पिछली बार सोये हुए मनुष्यो से भरी हुई देख चुके थे, माताएँ सवेरे का भोजन बनाने में व्यस्त थी। पुरुष काम पर जाने की तैयारियाँ कर रहे थे या काम में लग चुके थे। बडी लडकियाँ अपनी माताओ का हाथ बँटा रही थी और अपने छोटे भाई-बहनो की देखभाल कर रही थी। बच्चे हँस-खेल रहे थे। कुछ दूर, शहर से बाहर निकल कर हमने लड़को और नौजवानो को, बचकाने देशी कुत्तो की सहायता से मवेशियो, भेडो और बकरियो के झुण्डो को शहर में बिक्री के लिए ले जाते देखा। तब मैंने जाना कि निर्धनता निराकार नही है। वह मानव रूप में ही अपने को व्यक्त करती है। इन्सान ही ग़रीबी के तत्व रूप हैं—हाड-माँस के मानव, वास्तविक लोग जो खाते-पीते हैं, चलते-फिरते हैं, बोलते-चालते हैं—ऐसे मानव जो जीवित हैं, दु ख झेलते हैं, जिनके अन्तर में प्रेम, हर्ष और शोक की भावनाएँ उठती हैं। परन्तु ये मानव भिन्न हैं उन मानवो से, जिन्हे मै आज तक देखती रही हूँ।

हमने आकाश से उस विशाल नगरी को देखा और नयी दिल्ली के लिए उत्तर-पूर्व की ओर रुख किया। दोनो नगरो के बीच अधिकाश मार्ग मे हम छोटे-छोटे घरो के समूहों के ऊपर से गुज़रे। ये थे भारत के गाँव। प्रत्येक गाँव के चारो ओर भूरे-हरे खेत फैले हुए थे। कही-कही धरती पर बल खाती हुई पतली-सी नदी भी दिखाई दे जाती थी।

कुछ घण्टो बाद हम दिल्ली के हवाई अड्डे पर उतरे। नींद की कमी ने हमें बुरी तरह जकड़ लिया था। हम उनीदे हो रहे थे और हमें गर्मी लग रही थी। बम्बई में हुए अनुभव के बाद हम इस बारे मे बुरी तरह चिन्तित थे कि हमारा नया घर किस तरह का होगा! हमारी सबसे बडी इच्छा यही थी कि ठडे पानी से नहायें, कुछ देर सोये और तसल्ली का अनुभव करे।

जब हम वायुयान से उतरे, फोटोग्राफरो और सवाददाताओ की भीड़ हमारे स्वागत के लिए जमा थी और अमरीकी दूतावास के लोगो की लम्बी कतार

लगी हुई थी। इस प्रकार का स्वागत बहुत ही प्रभावशाली था जिसकी हमने कल्पना तक नहीं की थी।

उस नयी अपरिचित, अनिश्चित दुनिया में, जिसमें हम आये थे—सैली, सैम और मुझे एक अत्यधिक मैत्रीपूर्ण चेहरा दिखलाई पड़ा। वह था मेरे पिता का ड्राइवर—लम्बा-चौडा, दयालु और शान्त। उसका नाम था जीवन सिंह। उसने उस दिन हमें हवाई अड्डे से छ. मील दूर, १७ रैंटेन्डन रोड पर हमारे नये घर पहुँचाया।

चूँकि दोपहर का वक्त था और गर्मी खूब पड़ रही थी, इसलिए शहर में सडक पर ज्यादा लोग नही मिले। दो कुली अपने सिर पर बड़े-बड़े बोझ रखे चले जा रहे थे, और एक साइकिलवाला एक और व्यक्ति को पीछे बिठा कर ले जा रहा था। हम बड़ी आसानी से उस बड़ी गाड़ी के आगे निकल गये जिसे धीमी चालवाले दो चौपाए खींच रहे थे। उन चौपायो की पीठ पर कूबड़ निकले हुए थे। जीवन ने बताया कि ये बैल कहलाते है। जो लोग हमें रास्ते में मिले उनमे से ज्यादातर सड़क के किनारे छाया में आराम कर रहे थे।

रास्ते मे गाँव थोड़े से ही थे। अधिकाश जमीन सूखी और पथरीली थी, जिस पर अनगिनत झाड़ियाँ और कही-कही पेड़ भी दिखाई पड़ते थे।

चूँकि हमारा भावी घर नयी दिल्ली के निकटतम छोर पर था, इसलिए उस दिन हमे नगर बहुत कम देखने को मिला। जितना भाग भी हमने देखा वह हमारे विचार से वाशिंगटन, डी. सी., के भागो जैसा ही आधुनिक और साफ-सुथरा था। मेरे पिता ने हमें बताया कि देश की राजधानी के रूप मे नयी दिल्ली का निर्माण पिछले बीस वर्षो के भीतर ही हुआ है।

मै अपनी "कुछ भी सामने आ सकता है" सोचने की मनोवृत्ति पर एक बार फिर प्रसन्न हुई। जब हम १७ रैटेन्डन रोड के अहाते के छोटे रास्ते पर मुडे, मैंने देखा कि हमारा नया घर ऊपरी टीम-टाम से रहित, घर जैसा घर था। इससे मुझे बडी खुशी हुई; लेकिन सामने की सीढियो पर ग्यारह आदमी बड़ी मुस्तैदी से कतार बनाकर खड़े थे। उनकी वर्दियाँ सफेद थी। उनके सजे हुए साफे गहरे लाल, सफेद और नीले रग के थे। वे लाल, सफेद और नीले रंग के ही कमरबन्द बांधे थे। उनका परिचय हमसे नौकरो के रूप में कराया गया।

उनमे से एक व्यक्ति ने, जो हमें मालूम हुआ, हेड बटलर था, और जिसका

नाम गफूर था, आगे बढ़कर उत्साह से हमारा अभिवादन किया और हमें घर में ले गया। भीतर आश्चर्यजनक ठंडक थी; क्योंकि घर वायु-अनुकूलित (एयर कन्डिशण्ड) था। हमें अपना नया घर पसन्द आया, यद्यपि वह जरूरत से ज्यादा सजा-धजा था और ऐसा नहीं लगता था कि उसमें कोई रह रहा हो। हम बाकी नौकरों से भी मिले, जिनमें से अधिकांश अंग्रेजी बोल लेते थे। फिर हमने मध्याह्न का भोजन किया, खाना पूरी तरह अमरीकी ढंग का था। इसके बाद सामान खोलने की बारी आयी।

ज्यो-ज्यो दिन बीतते गये, हम नये वातावरण के अभ्यस्त होते गये। किन्तु हफ्तो तक मेरा भाई और बहन तथा मैं उस वातावरण में प्रसन्न नही हो पाये। हम अपने को अन्यमनस्क और अजनबी महसूस करते थे। घर से बाहर मैं अनुभव करती कि मैं एक ऐसी दुनिया में हूँ, जो मैत्रीपूर्ण होते हुए भी वास्तविकता से दूर है।

जब हम हार्टफोर्ड गये थे, तब भी मुझे ठीक ऐसा ही अनुभव हुआ था। यदि कुछ चीज सत्य थी, तो वह थी मैं, मेरा परिवार और मेरा घर। शेष सब जैसे अनिश्चित और अयथार्थ प्रतीत होता था।

उन दिनो आरभ में, कुछ सप्ताह तक हम दिल्ली में जिन अमरीकी लोगो से मिले, वे भी हमें वैसे ही अनजान लगे, जैसे कि भारतीय। जिन लोगो से हम अपने देश में परिचित थे, उनसे ये दोनो ही वर्ग बिलकुल अलग लगते थे। मुझे शीघ्र ही पता लग गया कि मेरे चारों ओर एक व्यूह बनता जा रहा है। मैंने समझ लिया कि यदि मुझे खुश रहना है, तो मुझे उसके बाहर निकलना होगा।

जैसे-जैसे दिन बीतते गये, मौसम ठंडा और संध्याएँ मनोरम होने लगी। हम अक्सर अपने पडोस में और अपने घर के पीछेवाले सुन्दर उद्यान में टहलने को जाने लगे। रैटेन्डन रोड बहुत शान्त और छायादार जगह थी। उस पर आवागमन बहुत कम रहता था। कभी-कभी कोई कार या लारी, चरमर करती हुई बैलगाडी या दो पहियो वाले, घोडा-जुते ताँगे की खड़-खड उस शान्ति को भग कर देती थी। लोग अपनी बाइसिकलो पर गुजरते, कभी तेजी से, कभी धीमे; यह उनके स्वभाव और मार्ग की दूरी पर निर्भर होता था। कभी-कभी

मै छोटे बच्चों की हँसी-खुशीवाली बातें भी सुनती थी, लेकिन उनकी भाषा नही समझती थी।

हमारे मकान के एक तरफ चीनी दूतावास के सदस्य रहते थे। दूसरी तरफ एक भारतीय परिवार रहता था; जिसके बच्चे शीघ्र ही सैली और सैम के मित्र हो गये। सड़क के उस पार, संयुक्तराज्य के सूचना-विभाग में काम करने-वाला एक अमरीकी परिवार रहता था। भारतीय डॉक्टर और उसका एक परिवार भी हमारे सामने ही रहता था। उसका लड़का और सैम अभिन्न मित्र हो गये।

समय पाकर मुझे रैटेन्डन रोड से लगाव हो गया। मेरे मस्तिष्क में उसका साहचर्य कुछ ऐसी ध्वनियो और दृश्यो से हो गया जिन्हे भुलाना कठिन है। पहले भी हमने किसी जगह अजनबी की तरह जा कर वहाँ के नये जीवन और वातावरण को स्वीकार किया था। अत. यहाँ के नये जीवन और वातावरण को अंगीकार करना हमने सीखा। लेकिन उन शुरू के हफ्तों में सैम, सैली और मैं उस वातावरण को समझ नही सके। उसे समझे विना खुश रहना सम्भव न था। हमे बहुत कुछ सीखना और समझना था। एक वात जो हमने समझी तो सही; किन्तु जिसे हम आसानी से स्वीकार नही कर सके, वह थी इतने ज्यादा नौकरो की उपस्थिति। हमारा परिवार छोटा था और घर भी बड़ा नही था। हम अपना काम खुद ही कर लेने के आदी थे। इस लिए हमे इस मे जरा भी आनन्द नही आता था कि कोई हमारे लिए मोटर चलाये, कोई सौदा-सुलफ लाये, कोई हमारे लिए खाना पकाये, कोई मेज पर भोजन परोसे, कोई हमारे कमरों को सम्हाले-सँवारे, और कोई हमारे लिए बगीचे मे पानी दे। यह सब हमें अनावश्यक लगता था। हमें जल्दी ही इस बात का विश्वास हो गया कि हमारी अनौपचारिकता और समानता की अमरीकी धारणाएँ हमारी कल्पना और समझ से भी ज्यादा दृढ हैं। हमे यह अटपटा लगता था कि नौकर हमारा सारा काम करे और हमें अपने से ऊँचा समझे।

किन्तु हमें जल्दी ही पता लग गया कि अधिकांश भारतीय यह विश्वास करते हैं कि उनका जन्म एक विशिष्ट जाति, सामाजिक श्रेणी अथवा स्थिति में हुआ है और वे साधारणतया उससे नीचे दर्जे के कार्य करना पसन्द नहीं करते। हमें यह भी मालूम हुआ कि यह विश्वास और इसके साथ ही भारत

की सारी जाति-व्यवस्था तेज़ी से ढीली पड़ रही है। वास्तव में जात-पांत की व्यवस्था कानूनन समाप्त हो चुकी है।

फिर भी जहाँ तक नौकरों का सम्बन्ध है, हर नौकर सिर्फ अपना विशेष प्रकार का काम ही करेगा, धोबी खाना नहीं पकायेगा, रसोइया कपड़ नहीं धोयेगा, बटलर बगीचे का काम नहीं करेगा, माली खाना परोसने के काम में हाथ ही नहीं लगायेगा, इत्यादि। और यदि हम, जिनका आदर किया जाता था और जिनके दर्जे को ऊँचा समझा जाता था, हस्तक्षेप करते और कुछ काम खुद ही करते तो नौकर बुरा मानते। वे या तो यह मानते कि, हम उनके काम की आलोचना कर रहे हैं या यह कि हम अपने को नीचा गिरा रहे है।

जब हम व्यक्तिगत रूप से नौकरों को ज्यादा अच्छी तरह जान गये, तब हमने उन्हें अपने अमरीकी रहन-सहन के ढग को समझाया कि किस प्रकार अमरीका मे लोग अपना अधिकाश या सारा घरेलू काम खुद ही करते हैं; किस प्रकार उन्होंने अपने घरेलू काम को आसान बनाने के लिए घरेलू काम की मशीनें बनायी हैं। इसके बाद वे अच्छी तरह समझ गये कि हम क्यो अपना इतना सारा काम खुद करने पर जोर देते हैं और आगे चल कर उन्होंने इसको बुरा मानना छोड दिया। उनमें से कुछ के लिए दूसरे घरो में हमने अच्छी नौकरियां खोज दी।

उनमें यह समझ धीरे-धीरे आयी। कुछ नौकर हमारे अमरीकी तरीकों को वास्तविक रूप में समझे बगैर केवल हमारी बातो के अभ्यस्त ही हुए। एक दिन मै अपने मकान के पिछवाडे वाले आँगन में, उस तरफ, कुछ नौकरों के बच्चो के साथ खेल रही थी, जहाँ वे अपने माता-पिता के साथ रहते थे। जिस गेंद से हम खेल रहे थे वह उस नाली में जा गिरी, जो बाहर गली की मोरी तक गयी थी। उन छोटे बच्चो में से एक, जिसका नाम लीला था–गेंद को पकडने के लिए मेरे साथ आ गयी। तब मैने ध्यान दिया, वैसे मै पहले भी कई बार देख चुकी थी, कि वह मोरी कितनी गन्दी और कीचड़ से भरी हुई थी।

मैने लीला के सामने सुझाव रखा, "अगर हम इसे साफ करके उम्दा बना

दें तो कैसा मजा आये ?" वह बोली, "अरे, नही बहनजी ! तुम ऐसा काम हर्गिज़ मत करना।"

"यह तो खेल है, काम थोड़े ही है," मैंने कहा; वह बोली, "अच्छा" और हमने सफ़ाई शुरू कर दी।

काम ठीक चल रहा था कि ड्राइवर जीवन की बीवी आ पहुँची और हम लोगो को काम करते देख कर दंग रह गयी। हमारे हाथ कीचड़ में सने हुए थे और चेहरे गन्दे थे। दूसरे बड़े-बूढ़े भी दौड़ कर आ गये। उन्होने हमें बुरी तरह डाँटा और मुझे तुरन्त काम बन्द करके हाथ-मुँह साफ करने के लिये कहा।

उन्होंने मुझसे कहा, "यह काम तुम्हारा नही, मदन का है"। (मदन भंगी था और नीच जाति का था। वही यह सब गन्दा काम करता था।)

किन्तु तभी हेड बटलर शकूर अहाते में आ पहुँचा और उसने उन्हे समझाया, "बहन जी के देश में लोग अपने हाथ गन्दे करने को बुरा नहीं समझते।" उसने अमरीकी तौर-तरीकों को जैसा कुछ समझा था, वह सब उन्हे बताया।

शकूर, जीवन और दूसरे नौकरो ने मुझे व्यूह से बाहर निकलने में बड़ी मदद की। समय पाकर उनमें से कुछ तो मेरे बहुत ही अच्छे मित्र बन गये।

तीन

वापस स्कूल में

हमारे नयी दिल्ली पहुँचने के कुछ समय बाद स्कूल का प्रश्न उठा। लैली, सैम और मैं अपने को अजीब परिस्थिति में महसूस करते थे और अपने नये वातावरण में हमें अपने घर की याद सताती थी। हमने सोचा, शायद स्कूल और वहाँ के नये संगी-साथी हममें वह भावना उत्पन्न कर सकें, जिससे हमारा बिरानापन घटे और हम ज्यादा खुश रह सकें।

हमने अनुभव किया कि अभी एकाध वर्ष हमारी स्कूली शिक्षा का महत्व इतना नहीं होगा। ज्योमेट्री और लैटिन तो हम कहीं भी सीख सकते हैं; किन्तु

भारत की जानकारी प्राप्त करना एक ऐसा अनुभव है जो केवल ऐसे विरले अवसर से ही प्राप्त हो सकता है—जैसा हमें मिला था, और अपने इस सद्भाग्य से हम अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते थे।

यह विचार करके हमने दिल्ली और दिल्ली के निकट के स्कूलों के बारे में पूछताछ शुरू कर दी। अधिकांश अमरीकियो ने वुडस्टाक स्कूल जाने की सलाह दी। यह श्रेष्ठ आवास स्कूल दिल्ली से लगभग तीन सौ मील उत्तर हिमालय पर्वत की सुन्दर घाटी में है। उत्तर भारत में रहने वाले लगभग सभी अमरीकी अपने जूनियर और सीनियर हाईस्कूल के बच्चो को इसी स्कूल में भेजा करते थे। यह स्कूल मुख्यत. अमरीकी लोगो के लिये था और उसमें पाठ्यक्रम एक अमरीकी हाईस्कूल के प्रारम्भिक पाठ्य-विषय के समान ही था।

किन्तु हमें पता चला कि उसमें ज्यादा से ज्यादा एक चौथाई विद्यार्थी भारतीय थे, और अध्यापक तथा कर्मचारी अधिकतर अमरीकी थे। वुडस्टाक में हम अपनी हाईस्कूल-शिक्षा को जारी रख सकते थे और समय आने पर हमें अमरीका के किसी भी कालिज में प्रवेश पाने में कोई कठिनाई नही होती। किन्तु हम भारत के बारे में कुछ भी न सीख पाते। जहाँ तक परम्परागत शिक्षा का सम्बध था वह तो हम कनेक्टीकट में अपने घर रहकर ही प्राप्त कर सकते थे।

एक भारतीय महिला ने, जिससे स्टेव का दूतावास में मिलना हुआ था, नयी दिल्ली के किसी ईसाई स्कूल में भरती कराने की सलाह दी। इस प्रकार के वहाँ दो स्कूल थे। दोनो को कैथोलिक मिशनरी चलाते थे। स्कूल दोनों अच्छे थे, किन्तु उनमे विद्यार्थियो की सख्या स्थान से अधिक थी। जब स्टेव ने हमें वहाँ भरती कराने की बात की तो वहाँ के मत्री ने उत्साहजनक उत्तर नही दिया।

चूँकि हम तो ऐसे ही स्कूल में जा सकते थे, जहाँ पढाई अग्रेज़ी में होती हो, इसलिए हमारे सामने सिर्फ तीन स्कूल और थे। लड़कियो का लेडी इरविन सेकेन्डरी स्कूल श्रेष्ठ स्कूल था। गृह-अर्थशास्त्र की शिक्षा उस की विशेषता थी, सैली को और मुझे इसमें रुचि थी। लेकिन हम तीनो एक ही स्कूल में जाना चाहते थे। इसलिए हमने किसी सहशिक्षा वाले स्कूल में भरती होने का फैसला किया।

नयि दिल्ली का माडर्न स्कूल प्रगतिशील सस्था थी। वह रूढिवादी अग्रेज़ी

स्कूलों की शैली की नही थी। उसके पाठ्यक्रम के विषय कालेज जाने की तैयारी के वैसे विषयो तक ही सीमित नही थे, जैसे कि अधिकांश अन्य स्कूलों में थे। इसका पाठ्यक्रम मुझे इस नयी पीढी के लिए बहुत उपयुक्त लगा, जिसे स्वतन्त्र और ग़रीबी से मुक्त भारत का निर्माण करना था। दुर्भाग्य से हमे यह गलत सूचना मिली कि माडर्न स्कूल केवल हिन्दी मे शिक्षा देता है, जो उत्तर-भारत की मुख्य भाषा है। हमने समझा, यह स्कूल भी छूटा, कम-से-कम उतने महीनो के लिए तो छूटा ही, जितने में कि हम हिन्दी सीखे।

आखिर जो स्कूल हमने चुना, वह था दिल्ली पब्लिक स्कूल। दरअसल अमरीकी अर्थ मे यह स्कूल नही था, क्योकि उसमे पच्चीस रुपये महीना फीस ली जाती थी। उसमे सहशिक्षा थी और हमारे घर से दो ही मील पर था; इसलिए आने-जाने की असुविधा नही थी। इसमें भी विद्यार्थियो की संख्या अधिक थी; किन्तु कक्षाएँ तम्बुओ में लगती थी, जो विद्यार्थियों की संख्या के अनुसार बढ़ाए तथा घटाए जाते थे।

जिस समय हमने दिल्ली पब्लिक स्कूल में प्रवेश किया उस समय वहाँ के शिक्षक और तेरह सौ विद्यार्थी, सभी भारतीय थे, सिवाय एक इण्डोनेशियाई परिवार के बच्चो के, जो आगे चलकर हमारे घनिष्ठ मित्र हो गये। ये विद्यार्थी कई धर्मो के थे—हिन्दू, मुस्लिम, सिख, बौद्ध और ईसाई। वहाँ के प्रिन्सिपल एक अंग्रेज़ सज्जन थे, जो कभी बहुत खुश रहते थे, तो कभी बहुत कठोर। स्कूल को वह ऐसे चलाते थे, मानो वह ग्रेट ब्रिटेन में कोई निजी स्कूल चला रहे हो।

स्कूल जाने का वह पहला दिन मुझे खूब याद है। पडोस के दो लड़के, जो पब्लिक स्कूल में पढते थे, पहले ही मेरे भाई सैम के मित्र बन चुके थे। वे तीनों साढ़े आठ बजे अपनी बाइसिकलो पर स्कूल चले गये। स्कूल नौ बजे लगता था, इसलिए कुछ देर में, सैली के साथ मैं भी चल पडी।

चूँकि हमारी अपनी बाइसिकले अमरीका से आयी नही थीं, इसलिए हमने अपने लिए नयी दिल्ली के बहुत कुछ पश्चिमी ढंग के बाज़ार कनाट प्लेस के एक साइकिलवाले से दो साइकिलें किराये पर मँगा ली थीं। ये साइकिलें पुरानी थी और हम ज्यादा दूर नही गये होगे कि सैली की चेन ढीली होकर उतर गयी। एक तो हमें साइकिल की मरम्मत का कोई अनुभव नही था, दूसरे एक अपरि-

चित-सी दुनिया में कदम रखने पर हम सहमे हुए-से थे। अतएव इस मुसीबत से हम बुरी तरह घबरा गये।

अब हमारे सामने प्रश्न यह था : क्या हम साइकिलो को लिये-लिये पैदल घर लौटें और शकूर से साइकिलें ठीक कराएँ (ऐसी दशा में, पहले दिन ही स्कूल पहुँचने में देर हो जाती) या उन्हे लिये-लिये स्कूल का ही बाक़ी रास्ता पैदल तय करें ? हम इसी पसोपेश में थे कि सैम का एक नया मित्र स्कूल जाते हुए उधर से गुजरा। उसने हमें पहचानकर हमारी परेशानी का सबब पूछा। हमने उसे चेन दिखाई। उसने पलक झपकते ही चेन चढ़ा दी। इस पर हमें बडी शर्म आयी। उसे धन्यवाद देकर हमने अपना रास्ता लिया और ठीक समय पर स्कूल पहुँच गये। हमने अपनी साइकिलें दूसरी सैकड़ो साइकिलो के साथ खडी कर दी और अपनी-अपनी कक्षा के तम्बू में जा पहुँचे।

स्पष्ट था कि यह बात फैल चुकी थी कि तीन अमरीकी स्कूल में दाखिल हुए हैं। मै उच्चतम कक्षा में भरती हुई थी, जो अमरीकी हाईस्कूल के जूनियर या प्रारम्भिक वर्ग के बराबर थी। कक्षा में चौदह लड़के और छ लड़कियाँ थी। वे सब लडकियाँ मेरे पहले ही आ चुकी थी। अध्यापिका के क्लास में आने से पूर्व हमें कोई एक मिनिट का समय मिला और इतने में हमने लजाते-लजाते एक दूसरे का अभिवादन किया और बहुत संक्षेप मे अपना परिचय दिया।

जब लडकियो ने हमारी कक्षा की वृद्धा अध्यापिका को आते देखा, उन्होंने मुझसे तुरन्त अपनी जगह बैठ जाने को कहा। ज्यो ही अध्यापिका ने तम्बू में प्रवेश किया, मै भी कक्षा के साथ खड़ी हो गयी। अध्यापिका ने अपने कागज़ो को ठीक-ठाक किया और बैठ गयी; किन्तु मै तब चकित हुए बिना न रह सकी, जब लड़के और लड़कियों ने एक स्वर से "गुडमानिङ्ग मैडम !" कहकर उनका अभिवादन किया।

दिल्ली पब्लिक स्कूल के विद्यार्थी अपने शिक्षको के साथ जो हद से ज्यादा औपचारिक व्यवहार करते थे, वह मेरे लिए बिलकुल नई चीज थी, और सच तो यह है कि मैं कभी उसकी अभ्यस्त नही हो पायी। यह बात मुझे हमेशा चुभती थी कि हम बिलकुल बच्चों की तरह अपनी शिक्षिका की मौजूदगी में उसके प्रति बेहद आदरभाव दिखाने का स्वांग करते, लेकिन उसकी पीठ पीछे या जब वह कक्षा में नही होती, तब अपनी मनमानी करते।

हाज़िरी हो जाने के बाद हम दस साल के बच्चो की तरह कतार बनाकर एक तम्बू के पीछे की खुली जगह में गये। वहाँ सारा स्कूल आधा घेरा बनाकर प्रार्थना के लिए जमा था। जब हम सब शांत हो गये, हमारे अंग्रेज प्रिन्सिपल ने एक प्रार्थना सुनायी और फिर स्कूल से दो और प्रार्थनाएँ करवायी, जिनमें से एक 'लार्ड्स प्रेयर' थी। हम सब बच्चे ही तो थे, प्रार्थना में हमारी ज़रा भी रुचि नही थी। तोते की तरह बगैर सोचे-समझे हमने उन शब्दो को दोहरा लिया। शिक्षिका की पीठ के पीछे हम एक दूसरे की तरफ आँखें मटकाते और एक दूसरे के बालो को खीचते; हाँ, पहले ही दिन हमने यह शरारत नही की।

प्रार्थना के बाद मेरा पहला घण्टा खेल-कूद का था, जिसमे हमने बास्केट-बाल से मिलता-जुलता खेल खेला। इसके बाद भूगोल का घण्टा आया, फिर भारत के इतिहास का और अन्त में अंग्रेजी व्याकरण का। ये सब के सब विषय अनिवार्य थे।

बारह बजे से ज़रा पहले हमे लच (मध्याह्न-भोजन) के लिए पौन घण्टा मिलता। सभी लड़कियाँ अपने-अपने भारतीय ढग के भोजन के डिब्बे या तो साथ लायी थी या उनके नौकर लाये थे। शकूर ने थोड़ी-सी सैण्डविचे और कुछ सेब मेरे भाई, बहन और मेरे लिए बाँध दिये थे। मैंने अपने हिस्से का भोजन किया और मेरी सहपाठिनियो ने साग, दाल और चपातियाँ खायी।

लड़कियाँ अमरीका की बाते सुनने को उत्सुक थी। सब से पहला प्रश्न जो उन्होंने मुझसे किया, वह था कि क्या मैंने किसी सिने-तारिका को देखा है? (मैंने देखा था जेन रसेल को, जो न्यूयार्क से पेरिस तक हमारे ही हवाई जहाज में आयी थी।) इसी से मिलते-जुलते प्रश्नो की झड़ी लग गयी और मैंने यथा-शक्ति उनका उत्तर दिया; यद्यपि मुझे शीघ्र ही पता चल गया कि हालीवुड के बारे में उनकी जानकारी मुझसे ज्यादा थी।

मुझे अपनी बात समझाने में कठिनाई होती थी। अधिकाश लड़कियाँ अंग्रेज़ी शुद्ध बोलती थी, लेकिन मेरी अंग्रेज़ी तो शुद्ध नही थी। और उसमें भी समझ में न आनेवाले अमरीकी बोलचाल के शब्दों का खासा प्रयोग रहता था। ऐसा लगता था, जैसे हम दो भिन्न भाषाएँ बोल रहे हो। लगभग एक महीने मे मैंने भारतीय ढंग की अंग्रेजी बोलना सीख लिया और मेरे मित्र मेरी अम-रीकी अंग्रेजी से खासे परिचित हो गये।

मध्याह्न के भोजन के बाद चार घण्टे और होते थे। पहला धार्मिक शिक्षा का, जिसमें बाइबिल की व्याख्या होती थी। यह ऐच्छिक विषय था और अधिकांश विद्यार्थियों ने इस समय केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र) या फिज़िक्स (पदार्थ विज्ञान) ले रखा था। केमिस्ट्री और फिज़िक्स विषय साथ-साथ पढ़ाये जाते थे, जो दो वर्ष के पाठ्यक्रम का अंतिम वर्ष था। चूँकि इनमें से कोई भी विषय मैंने पहले नहीं पढ़ा था, इसलिए मैंने धार्मिक शिक्षा पसन्द की।

धार्मिक शिक्षा के बाद गणित की कक्षा लगती थी। गणित भी मेरी [illegible] से काफी आगे का था। बाद में इस घण्टे में ज्योमेट्री पर मेरे साथ ज्यादा मेहनत की जाने लगी। गणित भी ऐच्छिक विषय था, और कुछ लड़कियों ने उनके बजाय गृहकार्य और आरोग्यशास्त्र ले रखा था। अन्तिम घण्टे से पहले वाला घण्टा कला का था और अन्तिम हिन्दी का।

इसके बाद उस दिन की पढ़ाई समाप्त हुई और लड़कियाँ मुझे स्कूल के मैदान की सैर कराने ले गयीं। स्कूल के सभी काम, सिवाय छोटे से दवाखाने के, तम्बुओं में होते थे। जिन तम्बुओं में कक्षाएँ लगती थीं वे काफी बड़े थे, और उनमें बीस लड़के आराम से बैठ सकते थे। उनमें न तो बिजली की रोशनी थी, न पंखे, न खिड़कियाँ; लेकिन एक ओर से वे बिलकुल खुले थे।

प्रिन्सिपल और वाइस प्रिन्सिपल का तम्बू छोटा था और उसमें बिजली की रोशनी और पंखे की अच्छी व्यवस्था थी; प्रशासकीय कार्यालय में भी यही व्यवस्था थी। एक और छोटे तम्बू में दुकान थी जहाँ किताबें, कागज, पेन्सिलें, कलमें आदि मिलती थीं। उनके पास वाले तम्बू में खेल-कूद का सामान रखा जाता था। एक तम्बू में पुस्तकालय था और फिर एक दुकान थी—जिसमें कैण्डी, फल और आइसक्रीम तथा खाने का स्वादिष्ट तला हुआ सामान बिकता था। दवाखाने की छोटी-सी गुम्बदनुमा इमारत पत्थर की थी। यह स्थान आश्चर्यजनक रूप से ठंडा था। इसे शायद मकबरे के रूप में पन्द्रहवीं सदी में मुसलमानों ने बनवाया था।

तम्बुओं में स्कूल लगने की बात शायद मुश्किल से ही कल्पना में आती है। मुझे यह स्कूल बहुत भा गया; यद्यपि हमें गर्मियों में बेहद गर्मी और सर्दियों में बेहद सर्दी लगती फिर भी हमें हमेशा ताज़ी हवा मिलती थी और मुझे प्रकृति के निकट रहना पसन्द था।

सभी किस्म के जगली जीव तम्बुओं में आ जाते थे। छोटी-छोटी गिलहरियो को तम्बू की रस्सियो पर दौड लगाने और छत पर खडखड़ाहट करने मे बड़ा मजा आता था। तरह-तरह की चिड़ियाँ भीतर-बाहर फुदकती रहती थीं और बड़े-बड़े काले व सफद बाज स्कूल के ऊपर मँडराया करते थे, जिनकी लम्बी परछाईं हमारी पृथ्वी पर पड़ती थी। एक दिन हमने साँप को मार डालनेवाला नेवला देखा जो तम्बू के कोने से झाँककर तुरन्त नौ-दो ग्यारह हो गया।

स्कूल की जमीन के सिरे पर खेलने के दो बड़े-बड़े मैदान थे—एक फुटबाल, हाकी, और क्रिकेट के लिए; दूसरा नेटबाल के लिए जो बासकेट बाल जैसा खेल होता है। नजदीक ही वालीवाल और बैडमिण्टन के लिए दो छोटे मैदान थे। जब हम उधर से गुजरे तब छोटी कक्षाओ के दो दल हाकी खेल रहे थे।

हमारा स्कूल नगर के आखिरी छोर पर था। पहले दिन जब हम दवाखाने जाने के लिए वहाँ की छोटी-सी पहाडी पर चढे, आस-पास का भूभाग लगभग निर्जन-सा लगा। वैसे वह बिलकुल समतल था; किन्तु कही-कही पथरीले टीले, कुछ छोटे-छोटे वृक्ष और बहुत-सी छोटी-छोटी हरी झाड़ियाँ दिखलाई देती थी। मेरे भारत छोडने से पहले स्कूल के इर्दगिर्द नये-नये घर और कई कमरोवाली इमारतें बन चुकी थीं।

लगभग चार बजे मेरी नयी सहेलियाँ साइकिलें खडी करने के स्थान तक मेरे साथ आयीं (वे स्कूल की बस से आती-जाती थी) और मैंने उनसे विदा ली, अब भी मै कुछ लजा रही थी, लेकिन प्रसन्न बहुत थी। घर पहुँच कर सैली, सैम और मैंने यह स्वीकार किया कि कुल मिलाकर भारत में रहना वास्तव मे कष्टप्रद नही है। यद्यपि नये वातावरण में आने का साहस करते हुए और अपने समवयस्क लोगो से मिलने-जुलने में हमें भय-सा लग रहा था; लेकिन हमने साहस करके जो पाया उससे हमें प्रसन्नता हुई। हमें विश्वास हो गया कि दिल्ली पब्लिक स्कूल की पढ़ाई हमारे लिए आनन्दप्रद सिद्ध होगी।

बाद के महीनो में मै हमेशा दिल्ली पब्लिक स्कूल की तुलना अपने अमरीकी हाईस्कूल से किया करती थी। मै दिल्ली स्कूल की औपचारिकता और नियम-बद्धता का जिक्र पहले कर चुकी हूँ। दोनों की पढ़ाई के तरीके भी बहुत भिन्न थे।

उदाहरण के लिए दिल्ली पब्लिक स्कूल मे, भारतीय इतिहा
हमसे आशा की जाती थी कि जिन अशो को अध्यापिका अपनी इतिहास
पुस्तक में से पढे उसपर ध्यान जमाकर हम उन्हे याद कर ले और समझ ले।
उन पर न बहस होती थी न प्रश्न पूछे जाते थे। जो कुछ किताब में लिखा था
उमसे ज्यादा अध्यापिका कुछ नही बताती थी। यह तो एक प्रकार का व्यायाम
था, पाठ नहीं।

दूसरी कक्षाओ में भी हमें लगभग इसी ढग से पढाया जाता था। कला की
कक्षा में, अध्यापिका ब्लैकबोर्ड पर जो कुछ बना देती थी, हमें उसकी नकल
करके रग भरना होता था।

मौलिक ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग मे बाधक ऐसी शिक्षा के प्रति हमारा आकर्षण
कैमे कायम रहता। यह तो अभ्यास पर बोझ ही है। अतः मुझे अपनी कक्षाएँ
अरुचिपूर्ण और प्रेरणाहीन लगती। परन्तु मुझे विश्वास है कि यदि मैं वास्तव में
सीखने और ऊँचे अक पाने पर ध्यान देती तो मै यहाँ भी उतना ही सीख सकती
थी, जितना मैं अपने देश में रह कर सीख सकती।

मेरे देश के स्कूल और दिल्ली पब्लिक स्कूल में एक और बहुत बड़ा अन्तर
था और वह था परीक्षा के ढग का। एसेक्स में पूरे वर्ष समय-समय पर परी-
क्षाएँ होती रहती थी और वार्षिक परीक्षा नही होती थी। उन्हीं परीक्षाओ और
हमारे कक्षा के तथा घर के काम के अनुसार हमें स्थान मिलता था। दिल्ली
पब्लिक स्कूल मे प्राय. हर हफ्ते परीक्षाएँ होती और फिर इगलैड के कम्ब्रिज
विश्वविद्यालय के द्वारा निर्धारित वार्षिक परीक्षा होती थी। बहुत से विद्यार्थी
असफल हो जाते और उन्हे अगले साल फिर परीक्षा देनी पड़ती।

दिल्ली पब्लिक स्कूल भारतीय हाईस्कूल के नमूने का नही था। चूँकि
उसमें सह-शिक्षा थी इसलिए वह भारत के अधिकांश हाईस्कूलो से भिन्न था।
हाईस्कूल मे लडके और लड़कियाँ साथ-साथ पढें—ऐसा आम चलन नहीं है।

फिर भी सह-शिक्षा के अतिरिक्त दिल्ली पब्लिक स्कूल विशिष्ट वर्ग के भार-
तीय हाईस्कूलो के नमूने का कहा जा सकता था। ऐसे अधिकाश स्कूल ब्रिटिश-
शासन के समय अंग्रेज अध्यापको के द्वारा स्थापित किये गये थे। और वे उसी
तरह के हैं जैसे तीस साल पहले ग्रेट- ब्रिटेन के हाईस्कूल होते थे।

ये स्कूल निजी रूप से लोग या कुछ लोग मिल कर चलाते हैं और तीन से दस डालर तक मासिक फीस लेते हैं। पढाई अँग्रेजी मे होती है और परीक्षाएँ सीनियर केम्ब्रिज की या और इसी तरह की होती है। इनका पाठ्यक्रम अमरीका के कालेज मे प्रवेश करने की तैयारी के पाठ्यक्रम जैसा होता है। भारत मे हाईस्कूलो की संख्या वहुत काफ़ी है और उनमे अधिकाश इसी तरह के हैं जिसका कि मै अभी वर्णन कर चुकी हूँ।

भारत मे, इस समय, सार्वजनिक शिक्षा किसी प्रकार से उतनी उन्नत नही है जितनी अमरीका मे। फिर भी अमरीका मे अधिकाश राज्यो और स्थानीय प्रशासनो ने प्रारम्भिक पाठशालाओ के निर्माण में और माध्यमिक पाठशालाओं की सख्या वढ़ाने में सहायता दी है। ये पाठशालाएँ दिल्ली पब्लिक स्कूल से अलग ढंग की हैं। इनकी स्थापना स्वाधीनता मिलने के बाद हुई; इन्हें सरकारी सहायता मिलती है। इनमे या तो फीस ली ही नही जाती और ली जाती है तो वहुत कम। इनमे प्राय: अँग्रेजी का स्तर नीचा होता है, पढाई हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषा में होती हैं। इनमे विद्यार्थियों को राज्य अथवा स्थानीय परीक्षको द्वारा निर्धारित परीक्षाओं के लिए तैयार किया जाता है। इन स्कूलो के पाठ्यक्रम मे कालेज की तैयारी के लिए व्यवस्था होती है लेकिन कम। वहुधा गृहकार्य, कृषि और शिल्प की शिक्षा शामिल रहती है।

केन्द्रीय सरकार पुरानी शिक्षा पद्धति की खामियो को समझती है यद्यपि छोटी आयु के आधे मे अधिक वच्चे, गाँवों में भी इस समय स्कूल जाते हैं; फिर भी ग्यारह से सत्रह साल की आयु तक के केवल १० प्रतिशत वच्चों को ही शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

भारत के सविधान का यह आदेश है कि चौदह साल तक के सब वच्चों को नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जायगी। इस माँग को और वच्चो की अपनी माँगो को पूरा करने के लिए सारे भारत के गाँवों, कस्बो और नगरो में तेजी से स्कूल वनवाए जा रहे हैं। भारत की अधिकांश जनता गाँवो में रहती है और उसमें शिक्षा का प्रसार तेजी से हो रहा है। वैसे तो, मै आशा करती हूँ कि भारत में गाँव सदैव वने रहेगे, किन्तु नया देश अपने महान प्रयोग द्वारा यह साबित कर रहा है कि गाँवो में हमेशा ही निरक्षरता नहीं रह सकती और निरक्षरता तथा ग्रामीणजन हमेशा पर्यायवाची शब्द नहीं बने रह सकते।

चार

नयी मैत्री

दिल्ली पब्लिक स्कूल के बारे में सैम, सैली और मेरी धारणा अलग-अलग थी। किन्तु; हम इस बात पर एकमत हैं कि हमने जो मित्रता वहाँ पैदा की वह स्कूल में हमारे अनुभव का सबसे सुखद और अमूल्य भाग है।

यद्यपि सुमन मुझसे हर प्रकार से भिन्न थी फिर भी परिचय होने के बाद यह सुन्दर और बाहर घूमने-फिरने वाली लड़की मुझे सबसे ज्यादा भायी। मुझे याद है कि जिस दिन मै पहली बार स्कूल गयी थी, वह मुझे अपनी सब सहपाठिनियो से ज्यादा स्पष्टवादी और जिज्ञासु लगी थी।

जिस प्रकार मैंने भारत आने से पहले भारतीय लड़कियो के बारे में एक राय बना ली थी, उसी तरह सुमन के मन में भी अमरीकी लड़कियो की एक काल्पनिक मूर्ति थी, जो मुख्यत. हालीवुड के अनेक चित्रों पर आधारित थी, जो उसने देखे थे। इसलिए उसे इस बात पर बडी निराशा हुई कि उसकी उम्र की सबसे पहली अमरीकी लड़की जो उससे मिली उसकी यानी मेरी बात-चीत का ढंग, रूप, रग, हाव-भाव आदि बिलकुल वैसे नही थे जिनकी कि उसने अमरीकी लडकियो के बारे में कल्पना की थी। लेकिन वह मित्र बनने के लिए उत्सुक थी और अक्सर, स्कूल के शुरू के कुछ सप्ताहो में, वह कुछ असुविधा उठाकर भी मेरा साथ देती थी।

स्कूल जाना शुरू करने के लगभग एक महीने बाद सुमन ने मुझे नयी दिल्ली में फिल्मो से परिचित कराया। रिवोली थिएटर कनाट सर्किल के बहुत नजदीक है। कनाट सर्किल धनीमानी वर्ग की दुकानदारी का केन्द्र है। स्कूल से हम वहाँ बस से गये। थिएटर में पहले से ही काफी भीड थी। सुमन ने बताया कि अधिकाश लोग कालेज के विद्यार्थी थे या युवक-ग्रेजुएट जिनकी अभी नौकरी-चाकरी नही लगी थी। लडकियाँ कम थी और मै अपने अमरीकी कपडो में अलग दीख रही थी, इसका मुझे खुद एहसास हो रहा था। उस समय मेरी इच्छा हुई कि काश मैं भी सुमन की तरह ढीली-ढाली सलवार पहने होती।

सलवार टखनों तक लम्बी पतलून जैसी होती है। उसकी कमर लगभग दो गज़ की होती है और नाड़े मे बाँधी जाती हैं। सलवार प्रायः सफद सूती कपड़े की बनाई जाती है। कभी-कभी उसी रग और नमूने के कपड़े की भी होती है जिसकी कि क़मीज़। कमीज़ बहुत कुछ पुरुषो की कमीज़ जैसी होती है। कमर पर न बहुत ढीली होती है न बहुत चुस्त। यह बहुत कुछ फ्राक के नमूने की होती है और सलवार पर पहनी जाती है। अमरीकी लड़कियों के पहनावे की तरह उसकी लम्बाई, रंग, कपड़े और नमूनो मे पहननेवालियों की अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार भेद रहता है।

सुमन ज्यादातर चटकीले रग की, बड़ी छपाईवाली, घुटनों तक की सूती कमीज़ पहनती थी। लम्बी कमीज़ का उस वक्त फैशन था और स्कूल तथा कालेज की अधिकांश लड़कियाँ घुटनों तक की या उससे भी ज़रा नीची कमीज़ पहिनती थी।

सलवार और कमीज के अलावा, दिल्ली की लड़कियाँ एक ओढने को भी काम में लाती हैं, जिसे चुन्नी या दुपट्टा कहते हैं। दुपट्टा महीन कपड़े का और छ. फुट लम्बा तथा दो फुट चौड़ा होता है। यह दुपट्टा लड़कियाँ कंधो पर से पीठ पर डाल लेती हैं। कुछ लड़कियाँ अपनी रुचि के अनुसार उससे सर भी ढँके रहती हैं।

सलवार और कमीज ख़ास तौर से पंजाब का पहनावा है। पंजाब प्रान्त दिल्ली के उत्तर में है। हाल ही मे समूचे भारत की बहुत-सी लडकियो ने, खेल-कूद और काम के समय के लिए असुविधाजनक साड़ी के बजाय इस पहनावे को अपना लिया है।

सुमन मेरे खयाल से, जो भी पहन लेती उसी में सुन्दर दिखती थी; किन्तु उस दिन सिनेमा में वह हल्के और गहरे हरे रग की छपी हुई सूती क़मीज़ के साथ सफेद सूती सलवार और चुन्नी में ख़ास तौर से मोहक लग रही थी। उसने लिपस्टिक भी लगा रखी थी। कुछ पश्चिमी फैशन की बड़ी उम्र की लड़कियाँ ही लिपस्टिक लगाने लगी है। सुमन ने अपने घने काले बालो की दो चोटियाँ गूंथ रखी थीं। उसकी कलाइयो में शीशे की बहुत-सी चूड़ियाँ पड़ी थी, जो रह-रह कर झनक रही थी। जब हम थिएटर में टिकट

की खिड़की पर गये उस समय मैं सुमन की तुलना में अपने को बहुत मामूली महसूस कर रही थी।

थिएटर बहुत-कुछ वैसा ही था जैसा अमरीका का कोई भी थिएटर हो सकता है, यद्यपि, यह मैं अवश्य कहूँगी, कि वह कनेक्टीकट में, मेरे घर के निकट के किसी थिएटर से ज्यादा शानदार था। उस में तीन श्रेणियों की सीटें थीं और हर एक के लिए टिकट जुदा-जुदा कीमत के थे। एक रुपये चार आने का सस्ता टिकट खरीदने वालों को पर्दे के सामने आगे बैठना पड़ता है। यह सस्ते-से-सस्ता टिकट भी बहुत-से भारतीयों के वश से बाहर की बात है। महँगे-से-महँगा टिकट तीन रुपये बारह आने का था। हमने जो टिकट खरीदा उसके ढाई रुपये लगे। अधिकांश लोग यही टिकट खरीदते हैं। हमने कुछ केक, पोटैटो चिप्स खरीदे और थिएटर में पहुँचकर भारतीय और लोकप्रिय अमरीकी संगीत सुनते हुए खेल शुरू होने की प्रतीक्षा करने लगे।

तीन छोटी न्यूज रीलें दिखाई गयीं। एक भारतीय समाचारों की थी, दूसरी विश्व के समाचारों की और तीसरी अमरीकी समाचारों की। इसके बाद बहुत-से विज्ञापनों और एक कार्टून का प्रदर्शन किया गया। फिर हालीवुड की फिल्म 'फ्रैंसिस गोज टू द रेसेज' दिखाई गयी।

नयी दिल्ली और दूसरे बड़े शहरों में हालीवुड के बहुत-से चित्र दिखाए जाते हैं। मैं कभी-कभी ही सिनेमा जाती थी और जब कभी जाती तो प्रायः सुमन के साथ। वह ऊँची आय वाले बहुत से भारतीय परिवार की लड़कियों की तरह लगभग प्रति सप्ताह जाती थी। समय-समय पर मैंने "कम बैक लिटिल शीबा", इंग्रिड बर्ग मैन की "गैस लाइट", "स्केरामूशे" और एक बाब होप की फिलम देखी। फिल्म देखनेवाले अधिकांश भारतीय अमरीका के बारे में अपने विचार और धारणाएं मुख्यतया ऐसे ही चित्रों के आधार पर निर्धारित करते हैं। मुझे याद है कि "कम बैक लिटिल शीबा" के उन दृश्यों को देख कर मैं बेहद सकुचायी थी जिनमें हाईस्कूल का एक लड़का अपनी एक मित्र लड़की के प्रति अनुचित व्यवहार करता है; परन्तु वह लड़की उसे कड़ाई के साथ नहीं रोकती।

अमरीका में इस फिल्म में मुझे आनन्द आता और इन दृश्यों की ओर मेरा ध्यान भी न जाता; किन्तु नयी दिल्ली के थिएटर में मैंने अनुभव किया

कि जो कुछ भी चित्रित किया गया था उस का भाव मैं तो समझती थी, दूसरे दर्शक नहीं समझते थे। इस समझ के विना भारतीय फिल्म-दर्शक यही समझ सकते हैं कि अमरीकियों में शील और नैतिकता की वहुत कमी होती है।

फिर भी 'कम वैक लिटिल शीवा' वैसी रद्दी फिल्म नही थी जैसी कि हालीवुड वरावर दिल्ली और अन्य भारतीय तथा एशियाई शहरों को भेजा करता है। उदाहरण के लिए हमारे कुछ 'वेस्टर्न' चित्र लीजिये जिनमें अमरीकी इण्डियनों के प्रति ज्यादातर वहुत ही वेढगा और उद्दण्डतापूर्ण रुख दिखाया जाता है। अमरीका में ही ये फिल्मे वुरी लगती हैं; और नयी दिल्ली में तो और भी ज्यादा वुरी लगती हैं। ये फिल्मे न केवल अमरीकी जीवन के वारे में भारतीयों में गलत धारणाएँ पैदा करती हैं; वल्कि उनमें से वहुत-सी वैभव और विलास का ऐसा वढा-चढा चित्र प्रस्तुत करती हैं, जो औसत भारतीय फिल्म देखनेवाले के अनुभव से वहुत परे होता है, और इसलिए वह मेरे एक लेखनी-मित्र के समान इस निर्णय पर पहुँचता है, कि अमरीका तो "पृथ्वी का स्वर्ग" है। हालीवुड की फिल्मे ऐसों के लिए अपने वातावरण से वास्तविकताओं को भुला देने का काम करती है।

इन फिल्मो की एक और भी प्रतिक्रिया होती है। यह शायद ज्यादा रचनात्मक होती हैं। भारतीय युवक-युवतियाँ और कालेज के लड़के-लडकियाँ अमरीकी युवक-युवतियों को स्वाभाविक और निकट के साहचर्य का आनन्द प्राप्त करते देखते हैं; उन्हें साथ-साथ स्कूल, चर्च और पार्टियो में जाते तथा साथ-साथ नृत्य करते देखते है। यह चीज उन्हें अपने यहाँ के उन वन्धनो के वारे में विचार करने को मजवूर करती है—जो जातिभेद, सयुक्त परिवार की प्रथा, और समाज के सामान्य उच्च नैतिक स्तर ने उन पर लाद रखे हैं। और तव इन वन्धनों के प्रति उनमें असंतोष पैदा होता है।

इटली की फिल्में भी भारत में लोकप्रिय हैं और वैसी ही भ्रममूलक। मुमन और मैंने "विटर राइस" और 'वाइसिकल थीफ" चित्र देखे। फरवरी १९५२ में नयी दिल्ली में अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह हुआ। तव हमने जापानी और रूसी फिल्में भी देखीं।

सयुक्त राज्य अमरीका के वाद भारतीय फिल्म उद्योग सव से वड़ा है।

सुमन तथा अपने दूसरे मित्रो के साथ हमने काफी भारतीय फिल्में देखी। उनमें से अधिकाश फिल्में अपनी लम्बाई और एक के बाद एक जन्म, मृत्यु, विवाह, बीमारी तथा दुर्घटनाओ जैसी तरह-तरह की और बहुत-सी मुसीबतो के चित्रण के कारण हालीवुड की "गान विद द विन्ड" जैसी लगती हैं। बहुत-से चित्रो में हँसी-खुशी और दुःख का असफल मिश्रण किया गया था। उनमें भारतीय जीवन का वैसा ही अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण किया गया था जैसा हालीवुड की फिल्मो में अमरीकी जीवन का किया जाता है। अक्सर वे भारत के गौरवशाली अतीत से सबधित होती हैं।

मेरी बहुत दिनो से इच्छा थी कि कही भारतीय विवाह देखने को मिले। इसलिए जब जनवरी के अन्त में सुमन ने मुझसे अपनी एक सहेली की शादी में चलने के लिए पूछा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। शादी उसी रात को होनेवाली थी और सुमन ने तय किया कि वह शाम को ही मुझे ले जायगी। ५ बजे जब वह मोटर से आयी, मै तैयार थी। सुमन साड़ी पहने हुए थी और आश्चर्यजनक रूप से बड़ी दिख रही थी। साड़ी हल्के गुलाबी रग के रेशम की थी, जिस में कधे से लटकनेवाले पल्लू पर सैकडो छोटे-छोटे रुपहरी सितारे टके हुए थे। वह लम्बे चमकदार इयररिंग और सोने के बहुत ही सुन्दर और सादे कगन पहने हुए थी।

अमरीका के लिए इस प्रकार का बढिया जेवर बहुत अमीरी का सूचक होता; किन्तु सुमन का परिवार कोई खास अमीर नही था। सोने और चांदी के जेवर भी दिल्ली में अपेक्षाकृत सस्ते थे और साधारण आमदनी वाले परिवारो की लड़कियो के लिए भी महँगे दीखने वाले आभूषण पहनने का रिवाज है।

हम दिल्ली की भीड़-भाड़ वाली सड़को से होकर गुजरे। पार्कों में पूरे-के-पूरे परिवार और युवक-विद्यार्थी कामकाज और पढ़ाई-लिखाई के बाद वैसे ही आराम कर रहे थे जैसे दुनिया मे सभी जगह करते हैं। शहर पार करके हम वधू के घर पहुँचे। चूँकि वह घर पुरानी दिल्ली के बीचो-बीच एक बहुत ही गन्दी, सँकड़ी और भीड़भरी गली में था; इसलिए यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि घर बड़ा और आरामदेह था और उसमें रहनेवाले लोग अंग्रेज़ी

बोलते थे। जब हम पहुँचे तब घर वधू के मित्रो और रिश्तेदारो से भरा हुआ था। हमें एक कमरे में ले जाया गया, जहाँ कुछ महिलाएँ और लड़कियाँ बैठी हुई बातें कर रही थीं।

भावी वधू भी उनके बीच बैठी थी। उसने शादी की लाल रंग की सुन्दर साडी पहन रखी थी और उस समय तक लजा नहीं रही थी। वर और उसके मित्रो के आते ही उसे लज्जा और संकोच का भाव अपनाना पड़ेगा। उसकी निकट की रिश्तेवालियाँ उसके पास बैठी उसकी सम्हाल-सुधार के लिए कुछ-न-कुछ किये ही जा रही थीं; कभी वे उसकी साड़ी को, तो कभी उसके बालों में लगे फूलो को ठीक करती।

मुझे उस नव-विवाहिता वधू का खयाल आया, जिसे मैंने कुछ सप्ताह पूर्व शादी के स्वागत-समारोह में देखा था। सुमन और मैं दोनो गयी थी। वह वधू अपना सर झुकाये हुए और अपनी आँखें नीची किये हुए बहुत ज्यादा शर्मा रही थी। मुझे बाद को ज्ञात हुआ कि शायद उसकी लज्जा वास्तविक रही हो या न रही हो, उससे आशा तो इसी की की जाती थी। नयी-नयी शादी करके वह नये घर में गयी थी। अब वह अल्हड़ लडकियों जैसा व्यवहार नही कर सकती थी। एक नयी लजीली, कर्तव्यपरायण पत्नी जैसा व्यवहार करना ही उसके लिए उचित था।

महिलाएँ एक-एक करके उसके पास आकर उसे कोई उपहार या आशीर्वाद देती। वह अपनी दृष्टि को ज़रा-सा ऊपर उठाती और मुस्करा कर अभिवादन करती और शुभकामनाएँ स्वीकार करती, और फिर से अपनी आँखें नीची कर लेती।

आज की भावी दुल्हन भी जल्दी ही ऐसी ही लज्जा धारण करने वाली थी; क्योंकि बाहर गली में बाजे-गाजे और चहल-पहल से हमे सूचना मिल गयी थी कि अब बारात सजाकर दूल्हा अपने मित्रो और सगे-सम्बंधियो के साथ आ रहा है। छज्जे से बारात देखने के लिए सुमन और मैं भाग कर दूसरी मञ्ज़िल पर जा पहुँची।

हिन्दुओ में यह प्रथा है कि शादी करने के लिए दूल्हा चलकर या घोड़े पर चढ़कर अपने घर से दुल्हन के घर जाता है; किन्तु आधुनिक विचारवाला यह दूल्हा चटकीली पीले रंग की, फूलों से लदी हुई मोटर में बैठकर आया।

मोटर और वारात का छोटा-सा जुलूस सडक पर झाँकने से दिखाई देता था।

आगे-आगे शादी के वाजे थे, दो नगाडेवाले और दो शहनाईवाले। वे संगीत तो कम निकाल रहे थे, शोर ज्यादा मचा रहे थे। उन्हे आनन्द खूब आ रहा था। उनके पीछे नयी मोटर थी जिसमें दूल्हा और उसके निकट के सम्वन्धी बैठे थे। हमने देखा कि दूल्हा पश्चिमी ढग का सूट पहने हुए था। अद्भुत चमचमाता हुआ सेहरा उसने सर पर डाल रखा था। आँखो के सिवाय सारा चेहरा उससे ढँक गया था। वह उसके कंधो तक लटक रहा था। मोटर के पीछे लोगो की भीड थी जिसमे दूल्हे के मित्रो और सम्वन्धियो के अलावा और वहुत से कौतुक-प्रिय दर्शक भी शामिल थे।

जव दूल्हा द्वार पर पहुँचा, तव दुल्हन के कुछ सम्वन्धियों ने उसका स्वागत किया। मोटर से नीचे उतरकर उसने अपने चेहरे पर से उस चमकते हुए सेहरे को ऊपर उठाया और दोनो परिवारो के प्रतिनिधियों ने शुभेच्छा के प्रतीक स्वरूप एक दूसरे पर गुलाबजल छिड़का। इस वीच हमने तथा औरो ने छज्जे पर से वारात पर फूल वरसाये।

दूल्हा और उसके साथ के लोग रात्रि के भोज तथा विवाह-सस्कार शुरू होने तक ठहरने के लिए भीतर आये। साढे दस वजे तक शादी शुरू नही हुई थी, इसलिए सुमन को तथा मुझे शादी देखे विना ही लौटना पडा। वाद में हमें मालूम हुआ कि आधी रात वीतने पर शादी शुरू हुई और कई घटों में जाकर पूरी हुई। भारत के अपने प्रवास-काल में मैं कई हिन्दुओ और सिखो की शादियो में सम्मिलित हुई। सभी में वधू के घर व वाहर वडी देर तक धार्मिक विधियाँ सम्पन्न होती हैं। गठवन्धन करके वर-वधू जव हवन-अग्नि के सात फेरे पूरे कर लेते हैं तव उनकी शादी हो जाती है।

मेरी एक घनिष्ठ सहेली की शादी दिल्ली में हुई थी। वह शादी के समय की अपनी चमकीली लाल और सुनहरी साडी में वहुत ही सुन्दर दिख रही थी। उसने सोने के अनेक कंगन पहन रखे थे और एक सोने की लड़ी उसके वालों में गुथी हुई थी, जिसके सिरे पर एक जेवर लगा हुआ था जो उसके माथे पर लटक रहा था। उसकी आँखो में काजल लगाया गया था और उसके माथे को छोटी-छोटी सफ़ेद विन्दियो से सजाया गया था।

शादी के संस्कार के बाद—जो शाम को जल्दी ही हो गये थे—वधू के घर पर शादी की दावत हुई।

मेरा और सुमन का कई बार मजे का साथ रहा था। फिर भी शुरू में वह मेरी इतनी ही मित्र थी, जो मेरे साथ अच्छा व्यवहार करती थी, जिसके साथ मेरा वक्त अच्छा गुज़रता था, जिसकी कि मुझे उस वक्त ज़रूरत थी। मुझे शीघ्र ही पता लग गया था कि यह देश संकोचशील है। उसमें सुमन का साहस किसी कदर मुझ पर हावी हो जाता था। लेकिन दो महीने में ही उसकी और मेरी घनिष्ठता हो गयी। वह सच्ची मित्र थी और मैं उसके साथ वैसे ही बात कर सकती थी जैसे मैं अपने देश में अपने मित्रों से करती थी।

मुझे जनवरी के सुहावने दिनों में से एक दिन खूब याद है। आसमान का रंग गहरा नीला था और सूरज चमक रहा था। सूरज गर्म इतना ही था कि उसकी तरफ़ पीठ करना अच्छा लगता था और भारी स्वेटर न पहन रखा हो तो धूप सुहावनी लगती थी। सुमन और मैं तथा कुछ लड़कियाँ और लड़के स्कूल के बाद हॉकी खेलने के लिए ठहर गये थे।

खेल खत्म हो चुका था। मैं और सुमन धूप में बैठे आराम कर रहे थे। तभी एक बड़ी-सी लारी उधर से गुज़री, जो खूब सजी हुई थी और उसके दोनों तरफ बड़े-बड़े पोस्टर लगे हुए थे। प्रत्येक पोस्टर पर बैल का चिह्न था—साथ ही अँग्रेज़ी, हिन्दी और उर्दू में लिखा था "पटेल को वोट दो', "कांग्रेस को वोट दो।" लारी लोगों से भरी हुई थी। वे गा रहे थे और चिल्ला रहे थे—"कांग्रेस को वोट दो।" दिल्ली राज्य के पहले चुनाव में बस एक सप्ताह रह गया था और दिल्ली की सभी बड़ी पार्टियों—कांग्रेस, सोशलिस्ट, जनसंघ और कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रचार-कार्य पूरे जोर पर था।

मैंने सुमन से पूछा कि पोस्टर के बैल का क्या तात्पर्य है? उसने बताया कि बैल कांग्रेस दल का चिह्न है। अपढ़ लोग इस चिह्न से कांग्रेस दल का सम्बन्ध जोड़ सकते हैं, और वैसे ही बरगद के पेड़ से सोशलिस्टों का, दीपक से जनसंघ का, गेहूँ की बाली तथा हँसिये से कम्यूनिस्टों का सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और वे जिस पार्टी को वोट देना चाहे उसकी मतदान पेटी को उस पर बने हुए चिह्न से पहचान सकते हैं।

सुमन ने मुझसे पूछा कि क्या अमरीका में भी राजनीतिक दलों को व्यक्त

करने वाले चिह्न होते हैं ? मैंने उसे अपने यहाँ के रिपब्लिकन दल के हाथी और डेमोक्रेट दल के गधे और दो-दलीय व्यवस्था के बारे में तथा चुनावों और राजनीतिक प्रचार-कार्य के बारे में बातें बतायीं। हम इस बात पर सहमत हुए कि जहाँ तक प्रचार और चुनावो का सम्बन्ध है दोनो देशों में विशेष अन्तर नहीं है।

"किन्तु" सुमन ने कहा—"भारत में तुम्हारे यहाँ की दो-दलीय व्यवस्था से मिलती-जुलती कोई चीज नहीं है।" उसने बताया कि भारत मे कांग्रेस पार्टी मुख्य है और कोई दूसरी पार्टी शक्ति में उसके बराबर या लगभग बराबर नही है। सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट पार्टी में थोड़ी-सी शक्ति है, और जनसंघ में बहुत ही कम।

इस अन्तिम दल के भावुक समर्थक विश्वास करते हैं कि भारत विशुद्ध हिन्दू देश होना चाहिए और मुसलमानो को भारत छोड़ने के लिए बाध्य किया जाय; वे पाकिस्तान अथवा अन्य किसी मुस्लिम देश में जाकर बसे। सुमन ने बताया कि इन चार दलो के अतिरिक्त, कुछ और छोटे-छोटे दल हैं और बहुत-से स्वतन्त्र उम्मीदवार भी हैं।

सुमन राजनीति का अध्ययन कर रही थी; जिस प्रकार मैंने अमरीका में किया था। भारत के प्रथम राष्ट्रीय चुनाव में सुमन के पिता दिल्ली राज्य की विधान सभा के लिए उसी चुनाव क्षेत्र में स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप मे खड़े हुए थे जिसमें वे रहते थे। सुमन ने बताया कि "उनका चिह्न सीढ़ी है और उनके प्रचार का नारा है 'हमें चाहिए उन्नति, कांग्रेस की हो अवनति!' मुझे इस नारे से कुछ आश्चर्य हुआ और मैंने सुमन से कहा कि मै तो यही सोचती थी कि कांग्रेस पार्टी भारत की सबसे प्रगतिशील पार्टियो में से है।

"स्वतन्त्रता के बाद हम सबका यही खयाल था कि वह बनेगी" सुमन बोली— "और वास्तव में उसने हमारे देश के लिए बहुत कुछ किया है। किन्तु कांग्रेस ने बहुत धीमी गति से काम किया।" बाद को कांग्रेस की इस प्रकार की आलोचना मेरे सामने अक्सर दुहराई गयीं। अधिकांश लोग जिनसे मेरी बात-चीत हुई उन्नति के लिए अधीर थे। भारत को आगे बढ़ने की व्यग्रता है।

यह दोपहर का पिछला पहर था जब हमारी बात खत्म हुई। मैंने अनुभव किया कि मैं सुमन को और भी ज्यादा समझने और चाहने लगी हूँ। उसके बारे

में मेरा यह खयाल कि वह सिर्फ़ सिनेमा की शौकीन और पश्चिमी सभ्यता को पसन्द करने वाली लड़की है, सही नहीं था ।

पहली फरवरी के लगभग, एक दिन जब मुझे भारत आये हुए तीन महीने बीत चुके थे, स्कूल की लड़कियों ने निर्णय किया कि अब वह समय आ गया है जब कि मेरे पास भी कुछ भारतीय ढग के कपड़े हों। भारत में कपडे पुरुष सीते है, जिन्हे दर्जी कहते हैं। सुमन ने सलाह दी कि हम कपड़ा-बाज़ार जायें। और फिर वह उस दर्जी की दुकान पर चलकर, जिससे वह प्रायः अपने कपड़े सिलवाया करती थी, मेरे लिए सलवार और क़मीज़ बनवाना चाहती थी। वस्तुतः मै अपने अमरीकी कपड़ो मे सबसे अलग दीखती थी और मेरा पहनावा साइकिल की सवारी के लिए उपयुक्त नहीं था। सुमन और मैंने तीसरे पहर ४ बजे उसके घर के सामने मिलने की योजना बनायी।

सुमन बाबर रोड पर एक छोटी-सी इक-मंज़िली बनी इमारत में रहती थी। जिस समय मैं साइकिल पर वहाँ पहुँची, वह बाहर खडी मेरा इन्तज़ार कर रही थी। चूँकि बाजार निकट ही था इसलिए हमने दुकान तक पैदल जाना तय किया। हम बाबर रोड होकर चौड़ी-चौड़ी वृक्षो से छाई हुई बाराखम्बा रोड से कनाट सर्किल, और सर्किल का चक्कर काटकर क्वीन्स वे पहुँची, जो नयी दिल्ली की एक प्रमुख सड़क है। क्वीन्स वे के किनारे-किनारे पश्चिम पाकिस्तान से आये हुए हिन्दू शरणार्थियों की अनेक छोटी-छोटी दुकानें हैं। उनमें कई दुकानें कपड़े की हैं। हमें पता था कि यहाँ हमें अपनी पसन्द की चीज मिल जायेगी। हमने झटपट सलवार के लिए तीन गज़ सफ़ेद कपड़ा, कमीज़ के लिए नीले रंग की ढाई गज़ छींट और हल्के नीले रंग का जाली जैसा पौने दो गज़ कपड़ा चुन्नी के लिए ख़रीद लिया। दर्जी की दुकान पास की ही सड़क पर थी। हमने उसके पास जाकर कपड़ा दे दिया और मुझे जैसा नमूना चाहिए था वह उसे बता दिया। उसने मेरी नाप ली और मुझसे एक हफ्ते बाद आने को कहा; तब तक कपड़े तैयार हो जाने वाले थे। तब से मैंने नियमित रूप से भारतीय कपड़े ही पहने।

दर्जी की दुकान से मैं और सुमन बाजार की एक छोटी-सी दुकान पर गये जो सुमन के घर के नज़दीक ही थी। उसमें खाने की चीज़ें बिकती थीं जो दिखने में जितनी लुभावनी थी, खाने में उतनी ही स्वादिष्ट भी। हमने कुछ

चटपटी चीज़ें खरीदीं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। कुछ मिठाइयाँ भी लीं। फिर तो इन चीज़ों की ऐसी चाट पड़ी कि हमसे कभी छूटी नहीं। जब भी मैं सुमन के घर जाती तब हम हमेशा उसी छोटी-सी दुकान पर जाकर उन स्वादिष्ट चीज़ों को खूब पेट भर के खाते।

लगभग पहली मार्च तक मुझे सुमन के घर जाने और उसके परिवार से मिलने का कोई अवसर नहीं मिला। जब उस दोपहरी को मैंने उसके घर में प्रवेश किया, मुझे एक मिनट के लिए लगा जैसे मैं अपने एसेक्स के हर समय व्यस्त रहने वाले घर पहुँच गयी हूँ। शिशुओं का रुदन, बच्चों की किलकारियाँ, बड़ों की बातें और कई छोटे-छोटे नगे पैरों की चाप मुझे सुनाई पड रही थी।

परिवार में एक चचेरे भाई का जन्मदिन मनाया जा रहा था और घर दादा-दादियों, पिता-माताओं, चाचा-चाचियों तथा शोर मचाते और दूध-पीते शिशुओं से भरा पड़ा था। एक प्रकार की आश्चर्यपूर्ण अस्तव्यस्तता छाई हुई थी। सभी खुशी मना रहे थे, हँस रहे थे, बातें कर रहे थे और खूब आनन्द ले रहे थे। सुमन ने मेरा परिचय अपनी माँ और अपनी चाचियों से कराया। मैं भी उस अस्तव्यस्तता में शामिल हो गयी और सब ने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया जैसे मैं उस घर की ही सदस्या हूँ।

जब मैं रवाना हुई, सुमन ने मुझे दूसरे दिन दोपहर के भोजन के लिए आमंत्रित किया। वैसे मैं भारतीय भोजन की कुछ चीज़ों का स्वाद चख चुकी थी और स्कूल में, मैं अक्सर सुमन और अपनी अन्य सहपाठिनियों के भोजन को समाप्त कराने में हाथ बँटाती रहती थी; किन्तु अब तक मैंने वास्तव में पूरा भारतीय भोजन कभी नहीं किया था।

जब मैंने दूसरे दिन सुमन के घर का दरवाज़ा खटखटाया, उनके छोटे भाई ने मेरा स्वागत किया और उसने सुमन को आवाज़ दी। वह भागती हुई आयी और मुस्करा कर उसने शान से "ही-या" कह कर मेरा अभिवादन किया। यह शब्द उसने उन्हीं दिनों किसी अमरीकी चित्र से सीखा था। "ही-या" कहकर ही मैंने भी उत्तर दिया और भोजन तैयार होने तक हम बैठ कर बातें करने लगीं।

मैंने उससे पूछा कि उसके परिवार के कौन-कौन सदस्य उस घर में रहते है और उसने मुझे संयुक्त परिवार-पद्धति समझायी। सुमन के दादा-दादी संयुक्त परिवार के और सुमन के परिवार के मुखिया थे। सभी विवाहित और अविवाहित लड़के, अविवाहित लड़कियाँ और विवाहित पुत्रों की पत्नियाँ व बच्चे सब उनके साथ रहते थे।

"भारत का पारिवारिक जीवन यही है।" सुमन ने मुझे बताया—'किन्तु, बहुत-से शिक्षित युवक अपने माता-पिता के बन्धन से मुक्ति अनुभव करने की इच्छा से अपना घर अलग बसाने लगे हैं।" सुमन का खयाल था कि बच्चे अपने माता-पिता के बहुत ऋणी होते हैं और उनका कर्तव्य है कि वे उनकी वृद्धावस्था में उनकी सेवा करें; जब तक वे जीवित रहें तब तक उनका आदर करें और उनकी आज्ञाओं का पालन करें।

सुमन के दादा-दादी, माता-पिता, चाचा-चाची और उनके बच्चे, एक अविवाहित चाचा, उसकी अविवाहित बुआ और उसके खुद के दो भाई और बहनें सब उस घर में रहते हैं।

जब हम खाने की बडी-सी मेज पर खाना खाने बैठे तब मेरा लगभग उन सब से मिलना हुआ। उन्होंने ज़रा सकुचाते हुए अंग्रेजी में मेरा अभिवादन किया। अंग्रेजी थोड़ी-थोड़ी सभी को आती थी। बाद में वे आपस में हिन्दुस्तानी में बातें करते रहे।

यद्यपि सुमन के परिवार के सदस्य हिन्दू हैं—फिर भी और बहुत-से हिन्दुओं की तरह ही वे भी शाकाहारी नहीं हैं। हाँ, लगभग सभी हिन्दुओं के समान, वे गोमांस से सख्त परहेज़ करते हैं। भोजन, जैसी मैंने आशा की थी, वैसा ही बढिया था। खूब मसाला पडा हुआ मेमने का गोश्त, आलू-मटर का साग और मसूर की दाल, सभी चीज़ें बडी स्वादिष्ट थी। दाल बहुत सस्ती और पोषक तत्वों से परिपूर्ण होती है। भारत के अधिकांश भागों के लोग इसे लगभग दोनों वक्त खाते हैं।

दाल-साग के साथ चावल और चपातियाँ परोसी गयीं। लगभग प्रत्येक उत्तर भारतीय घर में चपाती मुख्य भोजन है। बाद को मैंने उसका बनाना भी सीख लिया। गेहूँ के आटे में काफी पानी मिला कर उसे कडा-कडा सान लिया जाता है और उसकी छोटी-छोटी लोइयाँ बना ली जाती हैं, जिन्हें

बेल कर आग पर रखे लोहे के तवे पर मिनट भर में सेंक लेते हैं। आटे में तेल मिला कर बेली हुई लोइयो को सेंकने के बजाय तलने से दूसरी तरह की चीज बन जाती है। उत्तर भारत में चावल इतना नही खाया जाता है जितना गेहूँ। सुमन के परिवार में भी चावल रोज नही खाया जाता।

बर्फ जैसा सफेद दही और कई प्रकार की चटनियाँ भी खाने के साथ थीं; और भोजन के अन्त में केले, सेब और खूब रस से भरे हुए आम दिये गये।

सुमन और मैंने अधिकांश तीसरा पहर बातो में बिताया। फिर हम बाजार गये; खाने की वही चटपटी चीजें लेने, जो हमें बहुत भा गयी थी। हमने दो आने की दो मुट्ठीभर खूब मीठी और रसवाली गंडेरियाँ भी खरीदी।

फिर तो मैं कई बार भोजन करने सुमन के घर जाने लगी। भोजन के बाद बातचीत में मैंने उस अद्‌भुत लड़की और उसके सुन्दर देश के बारे में बहुत-सी बातें सीखी।

सुमन भावुक, स्नेहमयी, दयालु और जिज्ञासु लडकी थी। वह अमरीका से आकर्षित थी; उस अमरीका से जिसे उसने फिल्मो, फिल्मी पत्रिकाओ और कार्टूनो की पुस्तको में देखा था। वह उन्ही अमरीकी लडकियो जैसी बनने की कोशिश करती थी लेकिन उसी हद तक, जहाँ तक की ऊँचे नैतिक स्तर वाले देश-भारत में उसे "अश्लील" न समझा जा सके।

वह लिपस्टिक और लाली लगाती थी। पलको को काली करने वाली पेन्सिल का उपयोग करती थी, कभी-कभी नाखून भी रंगती थी और अमरीकी स्वेवर पहनती थी। जैसे सैन्डल मैं या और बहुत-सी औरतें पहनती थी, उनकी अपेक्षा ऊँची एडी वाले जूते उसे ज्यादा पसन्द थे। घर में वह डंगारी पहनती थी (जो मैंने दी थी) और चिक्लि गम (गोंद से तैयार किया गया एक पदार्थ) चूसती रहती थी। वह अमरीका के बहुत-से फ़िल्मी सितारो के नाम जानती थी; वाल्ज नृत्य, फाक्स ट्राट और रम्बा नृत्य करती थी; 'ही-या" और बोलचाल के ऐसे ही अन्य दर्जनो अमरीकी शब्दो का प्रयोग करती थी।

इसलिए सुमन कभी-कभी बहुत साहसी, लगभग निर्लज्ज, नखरीली लडकी समझी जाती थी। जो कुछ वह करती और पहनती थी उन से कुछ लोग यहाँ तक सोचते थे कि उसे अमरीका अपने देश से ज्यादा पसन्द है।

किन्तु उस से बातें करके मैंने जाना कि वह सुमन का वास्तविक चरित्र

नहीं; वह तो उसका वाह्य रूप था। मैं जानती हूँ कि सुमन उतनी ही सच्ची भारतीय है जितना मेरा कोई अन्य मित्र।

वह सुमन ही थी—जो मुझे भारतीय शादी में ले गयी थी, जो मुझे अक्सर अपने घर खाने के लिए और परिवार के कामो, त्योहारो और समारोहो में भाग लेने को वुलाती थी।

वह सुमन ही थी, जो मुझे उन भीड-भाड़वाले वाज़ारो और छोटे उपहार-गृहों में ले जाती थी, जहाँ मैंने भारतीय नगर के चहल-पहल-भरे जीवन को उसका एक अंग वन कर देखा। और वह सुमन ही थी, जो मुझे रामलीला ले गयी थी, जहाँ मैंने भारत के प्रसिद्ध महाकाव्य रामायण का अभिनय देखा।

मै सिर्फ यही आशा कर सकती हूँ कि मैंने सुमन को अमरीका का उसी प्रकार परिचय देने में सहायता प्रदान की, जिस प्रकार उसने अपने देश को समझने और देखने में मुझे मदद दी।

मैंने अमरीका के वारे में—अमरीका के छोटे-छोटे नगरो के वारे में, जो मैं जानती थी, उसे वताने की कोशिश की। मैंने उसके सामने अपने नगर का वर्णन किया कि लोग वहाँ कैसे रहते और काम करते हैं। मैंने वहाँ के स्कूलों और शिक्षा-प्रणाली की चर्चा की और उसे समझाया कि हमारे नगर और राज्य का शासन कैसे चलता है। मैंने उसे वताया कि वहाँ की वहुत-सी लडकियाँ न तो नेल-पालिश लगाती हैं और न "वविल गम" चूसती हैं और न सभी फिल्मी सितारों के नाम और उनके जीवन की गाथाओ से परिचित हैं।

फिर भी जव मेरे लिए भारत से विदा होने का समय आया, तव ऊपर से देखने पर मेरी तुलना में सुमन ज्यादा अमरीकन लगती थी। और मै, जिसने उसका पहनावा, उसकी भाषा और उसकी वहुत-सी रीतियाँ अपना ली थी—विलकुल भारतीय लगती थी। किन्तु इस सव के नीचे हृदय और मस्तिष्क में, सुमन भारतीय ही थी और मैं अमरीकी।

मेरे भारत से रवाना होने से पहले, सुमन ने मुझे वताया कि "वह एक लड़के से प्रेम करती है तथा उससे शादी करना चाहती है।" किन्तु भारत में प्रेम-विवाह इतने प्रचलित नहीं है और मैंने अनुमान किया कि सुमन कभी अपने माता-पिता की इस राय का उल्लंघन नहीं करेगी कि उसका पति उसी की जाति

का होना चाहिए। सुमन का मित्र उसकी जाति का नही था। इसलिए जब कुछ समय बाद उसने मुझे लिखा कि उसके परिवारवालो की इच्छा से उसकी सगाई उसी की जाति के एक व्यक्ति से हो गयी है, तो मुझे आश्चर्य नहीं हुआ।

मेरे दिल्ली पब्लिक स्कूल की मित्रो में सुमन मेरी सबसे घनिष्ठ मित्र थी। कुछ घनिष्ठता औरो से भी थी। इन दोस्तियो ने मेरे लिए यह सिद्ध कर दिया, जैसा इसी प्रकार की दोस्तियों ने दूसरो के लिए भी सिद्ध किया कि यह ज़रूरी नही है कि पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे के लिए अजनबी बने रहे।

पाँच

दक्षिण-यात्रा

१९५१ के दिसम्बर तक सैली, सैम और मैंने भारत में सिवाय दोनो दिल्लियो, इटावा की सरकारी विकास-योजना और दिल्ली के आस-पास के दर्शनीय स्थानो के अतिरिक्त कुछ नही देखा था। इसलिए जब चेट ने महीने के मध्य में दक्षिण भारत जाने की योजना बनायी और हमें स्कूल से छुट्टी लेकर उनके साथ जाने का मौका मिला तब हम बहुत प्रसन्न हुए।

दिल्ली से हवाई जहाज़ की छः घंटे की यात्रा के पश्चात तीसरे पहर हम दक्षिण भारत के सबसे बडे नगर मद्रास पहुँचे। मद्रास भारत के पूर्वी तट पर, बंगाल की खाडी के किनारे बसा हुआ है। ज्यो-ज्यो हम नगर के निकट आते गये, त्यो-त्यो नीचे की ज़मीन की हरियाली धीरे-धीरे बढ़ती गयी और तभी काफी दूरी पर मटमैला भूरा मद्रास दिखाई दिया। नगर के भूरेपन मे लगी हुई थी बंगाल की खाडी की विस्तृत नीलिमा, जो हमारी दृष्टि की सीमा से परे कहीं पर नीले आकाश से एकाकार हो रही थी। बन्दरगाह में दर्जनों मिट्टी का तेल ले जाने वाले और माल ढोने वाले जहाज, तटवर्ती यात्रा-स्टीमर और छोटी-छोटी नावें धूप में लंगर डाले हुए थीं या इधर-उधर दौड-भाग कर रही थी। ज्यो-ज्यो हम चक्कर काट-काट कर धरती के निकट आने लगे, त्यो-त्यो सुन्दर, छोटे-छोटे ताड के पेड और धान के खेत स्पष्ट होने लगे और हमने जाना कि हम दक्षिण में आ गये।

हम मद्रास में सिर्फ़ एक दिन ठहरे। उतने समय में हमने अधिकांश दक्षिण भारतीयों की मधुर भाषा तमिल के कुछ शब्द सीख लिये। दक्षिण भारत की तीन अन्य प्रमुख भाषाओं में से दो—तेलुगु और कन्नड़ की तरह—तमिल संस्कृत या उस से निकली भाषाओं से बिल्कुल असम्बद्ध है।

दक्षिण भारतीयो के लिए हिन्दुस्तानी वैसी ही अपरिचित है जैसी कि अंग्रेज़ी, और राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्वीकार किया जाना दक्षिण में ज्यादा पसन्द नही किया गया। बहुतेरे ऐसा अनुभव करते हैं कि इस समय अंग्रेज़ी को भारत की मुख्य भाषा के स्थान से हटाना भूल है, जब कि यह भाषा विश्व में इतने व्यापक रूप से बोली जाती है।

सवेरे ६॥ बजे से हमने अपना सारा दिन मद्रास की बहुत-सी संस्थाओं और सगठनों के देखने में बिताया। सबके अन्त में हमने विश्राम एवं आरोग्य-केन्द्र देखा, जो इस देश के आवास-गृहों से मिलता-जुलता था। यह केन्द्र पास-पड़ोस के लगभग ३०० परिवारो के लिए आरोग्य तथा मनोरजन की पूर्ण सुविधाएँ प्रदान करता था। बच्चे वहाँ दिन में आते, स्कूल जाते, आयोजित मनोरजनों में भाग लेते और डाक्टरी सहायता प्राप्त करते थे।

यह संस्था तथा बहुत-सी अन्य सस्थाएँ, जिन्हे हमने देखा, इसी विशेष उद्देश्य को लेकर स्थापित की गयी थी कि भारत के लोगों को ऊँचे स्तर के जीवन-यापन में सहायता प्रदान की जाय। इन संगठनों और सस्थाओ में काम करने वाले ज्यादातर लोग, बहुत ज्यादा आशावान दिखाई देते थे और अपने प्रयत्नो के प्रति गौरव का अनुभव करते थे। उन्हें अपने काम पर गर्व था। शायद वे विश्वास करते थे (जैसा मैं विश्वास करती हूँ) कि एक व्यक्ति जहाँ तक बन पड़े अपनी शक्ति भर काम कर ले, भले ही वह काम कम क्यो न हो; तो वह दूसरों की छोटी-छोटी सफलताओ में मिल कर बड़ी और महत्वपूर्ण सफलता बन जाता है। बाद को, हमने इसी प्रकार की आशापूर्ण मनोभावना भारत के बहुत-से भागो में पायी।

दूसरे दिन तड़के ही, हम कार द्वारा मद्रास से बंगलूर के लिए रवाना हुए, जो २५० मील पश्चिम में है। तीसरे पहर से पहले, मद्रास राज्य पार करके मैसूर राज्य में प्रवेश करने के कुछ ही देर बाद हम कोलार नगर में रुके। यहाँ अमरीका के एक ईसाई मिशनरी दल की ओर से हमें हार पहनाये गये और

हमारा स्वागत किया गया। यह दल कोलार-क्षेत्र में जन-स्वास्थ्य और साक्षरता के कार्य में जुटा हुआ था। मेरे लिए अमरीकी मिशनरियो के सम्पर्क में आने का यह पहला अवसर था। मैं उनके कार्य से बहुत प्रभावित हुई।

मैंने कितनी ही बार एक और तरह के मिशनरियो के बारे में सुना था। उन मिशनरियो के बारे में जिनका एक-मात्र लक्ष्य उन भारतीयो को ईसाई बनाना था, जिनके साथ वे काम करते थे। इसलिए कोलार के मिशनरियो से मिल कर और यह जान कर मुझे बडा हर्ष हुआ कि सभी मिशनरी एक-मात्र धर्म-परिवर्तन में संलग्न नही हैं, जैसा मैंने समझ रखा था।

बाद को मेरा अन्य मिशनरियों से भी परिचय हुआ, जिन्होंने अपनी शक्ति धर्म निरपेक्ष कार्यो में लगा रखी थी। मुझे सारे भारत के उन दलों के बारे में भी जानने को मिला जो उतने ही निःस्वार्थ भाव से और "सच्चे ईसाइयो" की तरह काम कर रहे हैं, जिस प्रकार कोलार के लोग। भारत के मिशनरियों में रोमन कैथोलिको की अधिकता है। बाकी ज्यादातर या तो एपिस्कोपेलियन है या मेथोडिस्ट।

जैसे-जैसे हम कोलार के निकट आये, वैसे-वैसे दृश्य अधिक बंजर होता गया और चट्टानो से ढँकी पहाडियाँ मैदानों में उठती हुई दिखाई देने लगी थीं। यहाँ धान, ज्वार और जौ की फसलें जल के लिए तरस रही थी।

ज़रा हरे-भरे और कम बंजर छोटे-छोटे गाँव हमें रास्ते में मिले। कभी-कभी हमें पत्थर या ईंट का मकान देखने को मिला, जो मामूली मिट्टी के बने और ताड़ से छाये हुए झोपडो के बीच अलग-सा लगता था। बहुत से गाँवो के सिरो पर पत्थर से निर्मित हिन्दू मन्दिर दिखाई दिये, जिन पर बडा सुन्दर खुदाई का काम किया हुआ था। वहाँ ईसाई और इस्लाम धर्म के भी चिह्न मौजूद थे। सडक के किनारे-किनारे बरगद के मनोहर पेड दूर-दूर तक चले गये थे। उनकी डालें विस्मय-जनक लम्बी थी। एक-एक डाल में से कई डालें निकली हुई थी, जिन्होने ज़मीन में अपनी जडें जमा ली थी।

हम शाम को बंगलूर पहुँचे और दूसरे दिन सवेरे जल्दी ही वहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर रवाना हो गये। वहाँ हम मैसूर महाराजा के राजमहल को देखने के लिए ठहरे। महाराजा वहाँ नही थे, किन्तु उनके सहायकों ने हमें महल दिखलाया। मै उसे देख कर वैसे ही चकित हो गयी जैसे कि बम्बई के ताजमहल

होटल को देख कर हुई थी। गरीबी से ग्रस्त जिन सड़कों पर होकर हम आये थे उनमें और इसमें जो अन्तर था उससे मैं चकित हुई और क्रोधित भी।

वहाँ सोने, चाँदी, संगमरमर और काँच का सामान था; जगमग-जगमग करते कमरे और हाल थे, जो मसाले लगाये हुए पशुओ से भरे हुए थे। वह तो उन कल्पित महलों जैसा था जिन के बारे में मैंने बचपन में परियों की कथाओ मे सुना था। ऐसे महल पृथ्वी पर होंगे यह मैंने कभी सोचा भी नही था।

जब हम उस कल्पना-लोक जैसे स्थान से निकल कर महल के निकट की सड़क पर पहुँचे, तब एक पुलिसवाले ने हमे रोका और कहा कि हमें चक्कर काट कर जाना होगा; क्योंकि महाराजा साहब आने वाले हैं और सड़क खाली होनी ही चाहिए। मेरा हृदय विद्रोह से भर गया और मैं सोचने लगी कि यह विद्रोह मेरे अमरीकी होने के कारण संस्कारो का परिणाम था या मैसूर की सड़क पर चलने वाला व्यक्ति भी ऐसा ही अनुभव करता है। मुझे यह भी विचार आया कि अपनी भूतपूर्व प्रजा का रास्ते से हटाया जाना स्वयं महाराजा को कैसा लगता होगा? शायद प्रजा और महाराजा दोनो ने इसके सिवाय और कुछ जाना ही नही था।

देश स्वाधीन हो जाने के समय से ऐसे वंश-परम्परागत महाराजाओ की राजनीतिक सत्ता नही के बराबर हो गयी है। कुछ को जनता ने शासन-तंत्र के लिए चुना है और वे अपने जीवन को नये भारत के निर्माण में लगा रहे हैं। दूसरे अब भी उस धन से, जो भारत-सरकार ने उन्हे राजसी सत्ता से हटाने पर दिया था, विलास का जीवन बिता रहे हैं।

मैसूर से हम दक्षिण की तरफ ऊटकमण्ड की ओर बढे। यह नगर पश्चिमी घाट की पर्वतमाला के एक भाग मे नीलगिरी की पहाड़ियों में ऊँचाई पर स्थित है। ज्यों-ज्यो हम ऊँचाई पर पहुँचते गये, त्यों-त्यो हरियाली घनी होती गयी। शीघ्र ही हमने अपने को चारो ओर मनोरम जंगल से घिरा हुआ पाया; ऐसा जंगल जो नाजुक, पतले-लम्बे बांस, ऊँचे और शानदार सागौन और तैलयुक्त सुन्दर युकालिप्ट्स के वृक्षों से भरा था। अपने भारत-प्रवास में मैंने जो देखा उसमें इस स्थान को सब से अधिक सुन्दर भाग के रूप में मे आज भी याद करती हूँ। मुझे शुष्क और समतल दिल्ली में इस हरियाले, जगली, पर्वतीय प्रदेश का अभाव बेहद खटकता था।

ज्यो-ज्यो हम चक्कर काटते हुए और बहुत ही घुमावदार मोड़ो पर चीटी की चाल से ऊँचे ही ऊँचे चढ़ते गये, त्यों-त्यों ठडक बढती गयी। चाय की छोटी झाड़ियो के बागान, धान के व्यवस्थित खेत और कई एकड़ में फैले सरकारी सिन्कोना वृक्ष, जिनकी छाल से कुनीन तैयार की जाती हैं, हमारे रास्ते में पड़े।

हमने ऊटकमण्ड में दूसरा दिन—जो रविवार था, विश्रामदायक हरियाली में धूप का सेवन करके विताया। वडे दिन में एक सप्ताह से कुछ ही ज्यादा दिन बाकी थे। वड़े दिन से पहली रात को सैली, मैं और एक दक्षिण भारतीय ईसाई, जो हमारे साथ ही यात्रा कर रहा था, वडे दिन के पूर्व की उपासना के लिए एक छोटे-से गिरजाघर में गये, जो नगर के बाजार के पास वाली पहाडी पर स्थित था। यह छोटा और सादा गिरजाघर १६ वी शताब्दी के प्रारम्भ में बना था। हमारे पहुँचने के पहले ही गिरजाघर झुकी हुई कमर वाले बूढो से लेकर, कम्बलो में गठरी बने हुए दूध-पीते शिशुओं, जाकिट और रोयेदार टोपी पहने हुए पुरुषो और गर्म ऊनी शाल ओढी हुई औरतो से भर गया था।

गिरजाघर और उपासना की सादगी मनोरम थी। उपासना की वेदी लकड़ी के सादे क्रास, लम्बी श्वेत मोमवत्तियो और हरी-भरी डालियों से सजी हुई थी। उपासना तमिल और अग्रेज़ी दोनो में हुई, जिसमें ज्यादातर वड़े दिन के गीत गाये गये।

तमिल भाषा के गीत, अमरीका में प्राय: गाये जाने वाले गीतों की अपेक्षा अधिक मधुर और भावपूर्ण थे। उन्हे गम्भीरता और भावना पूर्वक गाया गया था।

ऊटकमण्ड की यात्रा हमने पर्वत के उत्तरी भाग में की थी। दो दिन के बाद जब हम वहाँ से रवाना हुए, तब हम दक्षिण भाग से नीचे उतर कर समुद्रतट के त्रावणकोर-कोचीन राज्य के कोचीन नगर की ओर बढे। हमारी सड़क का टेढ़ामेढ़ापन धीरे-धीरे कम होता गया और अन्त में वह पर्वत की तलहटी में समतल और सीधी हो गयी। सड़क के दोनो ओर सुपारी के लम्बे पेड, धान के खेत, कपास और काजू की फसलें खड़ी थी, जो इस गर्म और तर प्रदेश की विशेष पैदावारें हैं, जिसमें हम अब पहुँच गये थे।

हमें पता था कि दक्षिण भारत में हमें हाथी देखने को मिलेंगे। जब हम अमरीका में थे, हमारा खयाल था कि ये हाथी सारे भारत मे आम तौर से पाये जाते हैं। उस दिन ऊटकमण्ड से कोचीन जाते हुए रास्ते मे हमने पहली बार हाथी देखा। वह जंगली था।

मुख्य सड़क से दो मील दूर एक छोटे-से गाँव के निकट एक हाथी का बच्चा, एक गढ़े में, जो उसी उद्देश्य से खोदा और पेड़-पत्तो से ढँका गया था, फंस गया था। जंगल से लेकर गाँव तक की धूल भरी छोटी-सी सडक बहुत ही ऊबड-खाबड़ थी। इसलिए उस पर हमारी मोटर का चलना दुश्वार था। हमने धीरे-धीरे चलने वाली एक बैलगाड़ी के सहृदय गाडीवान का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि वह हमें वहाँ पहुँचा देगा और वापस ले आयेगा।

गढ़े के चारो ओर उस छोटे हाथी (यदि हाथी के बच्चे को छोटा कहा जा सकता है) को देखने के लिए एक छोटी-सी भीड़ जमा थी और वह हाथी बड़े करुणापूर्ण ढग से मुक्ति पाने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न कर रहा था। जगली हाथी किसानो की फसलें वर्बाद कर देते हैं। इसके विपरीत पालतू और सिखाये हुए हाथी बहुत काम के होते हैं, यह चीज हमें उसी दिन बाद में मालूम हुई। अपने रास्ते मे हमने कही-कही देखा कि हाथी काम में लगा हुआ था और पेड़ो की शाखाएं या लट्ठे खीच रहा था।

जैसे-जैसे हम तट के निकट आते गये, वैसे-वैसे जमीन अधिक रेतीली होती गयी और हमारी सड़क बहुत-से छोटे जलप्रवाहो, नहरों तथा पानी के निकासो के ऊपर होकर गयी थी। एक स्थान पर हमने और हमारी मोटर ने एक छिछली किन्तु तेज बहने वाली नदी को लकड़ी के सपाट तख्ते पर पार किया, जो दो लम्बी-लम्बी नावो पर टिका हुआ था।

जिस समय हम नदी पर पहुँचे, उस समय झुटपुटा था और जब अन्त में हम उस पार पहुँचे तब अँधेरा हो गया था। दूसरे किनारे के पेडों पर चन्द्रोदय हो रहा था। उसका प्रकाश पानी की लहरों पर झिलमिल-झिलमिल कर रहा था। वहाँ की शान्ति मनोहारी थी। केवल बीच-बीच में दूर से असख्य मेढकों की आवाज और जहाँ, हम उस पार जाने के लिए अपनी बारी आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, वहाँ सड़क के किनारे की छोटी-सी चाय की दुकान के लोगो की बात-चीत की ध्वनि सुनाई दे रही थी।

दूसरे दिन सवेरे हम कोचीन से कन्याकुमारी के लिए रवाना हुए, जो भारत के ठीक अन्तिम छोर पर है। उस दिन हम जिस प्रदेश से होकर गुज़रे वह बहुत ही सुन्दर और हरा-भरा था। भारत के जो-जो भाग मैंने अब तक देखे थे, यह प्रदेश उन सबो से भिन्न था। पहली दृष्टि में त्रावणकोर-कोचीन समृद्ध, सन्तुष्ट और शान्तिमय लगा। भूमि नैसर्गिक सुन्दरता से सजी हुई थी। आकाश की नीलिमा के समक्ष खड़े हुए वे लम्बे शानदार नारियल के वृक्ष, घनी हरियाली, अनन्त तट की सफेद बालू, नील-हरित शान्त विशाल सागर, जो अफ्रीका तक फैला हुआ था, और फूस की छतो वाले देहाती-घर, तट के किनारे-किनारे जिनकी लगातार, लगभग एक सरीखी पंक्ति धरती और पेड़ो से एकाकार हो रही थी।

अपनी पर्याप्त प्राकृतिक उपज—नारियल के वृक्षो—से जो जीवन की सारी आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं; बहुत काफी जल-वर्षा से और मध्यम प्रकार की जलवायु से वह धरती समृद्ध भी थी।

किन्तु वह सौन्दर्य और समृद्धता छलपूर्ण थी। इस भ्रामक चेहरे के नीचे छिपी हुई थी भारत की निकृष्टतम निर्धनता, भयंकर रूप से बढ़ी हुई जन-संख्या, दम घोटनेवाली ज़मीदारी-प्रथा और उन कम्युनिस्टो की हिंसा जो ऐसे क्षेत्रो की ओर खिचे चले आते हैं।

इस तटीय क्षेत्र के ग्रामीणो की बहुत बड़ी संख्या लगभग पूरी तरह से इन नारियल के वृक्षो पर निभर है, जो वहाँ बहुतायत से पैदा होते हैं। वे उस विशाल वृक्ष के किसी भाग को व्यर्थ नही गँवाते।

जो नारियल हम अमरीका में दुकानो पर खरीदते हैं, उनके ऊपर मूलतः हरा और रेशेदार छिलका होता है। हमारे पास यह नारियल पहुँचाने से पहले मजदूर उसके उस खोल को उतार देते हैं। रेशे साफ कर दिये जाने पर यह खोल ईंधन और खाद के लिए बहुत उपयोगी होता है। गांव वाले रेशे को रस्सियाँ बनाने, चटाइयाँ और टोकरियाँ बुनने के काम में लाते हैं।

खोल के नीचे बीज होता है जिसे हम नारियल की गिरी कहते हैं। यह गिरी प्राय वैसे ही खायी जाती हैं या सुखाकर और बारीक काट कर निर्यात की जाती हैं या उसे पेर कर तेल निकाला जाता है। नारियल के पानी में प्यास बुझाने का अद्भुत गुण होता है।

सभी जगह हमें किसी-न-किसी रूप में नारियल के वृक्षों के अंग देखने को मिले। अधिकांश छोटे-छोटे घरों की छतें नारियल के चौड़े पत्तो से छाई हुई थी। चटाइयाँ और टोकरियाँ पत्तों के डठलों या नारियल की जटाओ की बुनी हुई थीं।

बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ और समुद्र या नहर के किनारे की नावे हरे छिलके से भरी हुई थी और टोकरियाँ जटाओ से भरी थी। कई जगह, सड़क के किनारे, चटाइयों पर नारियल की गिरी तेज धूप मे सूख रही थी।

उस क्षेत्र के अधिकांश लोग नारियल-उत्पादन और उद्योग के विभिन्न अंगों में लगे हुए हैं; किन्तु उन्हें अमीर और शक्तिसम्पन्न भूस्वामी, जिन पर उनका कोई वश नही है, बहुत थोड़ी मजदूरी देते हैं। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नही कि वे असन्तुष्ट हैं और हिंसा की ओर बड़ी आसानी से बहका लिये जाते हैं।

भूमि-सुधार, जिसके प्रमाण हमें सब जगह देखने को मिले, राजनीतिक आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण अंग था। १९५१ में भारत के प्रथम लोकतांत्रिक चुनावों मे प्रत्येक राज्य की मतदान की तारीख जुदा-जुदा थी। त्रावणकोर-कोचीन की बारी हमारे वहाँ से रवाना होने के बाद जल्दी ही आनेवाली थी। पोस्टर, सूचनाएँ, झण्डे, मोटरे, गाड़ियाँ, सम्मेलन, सभाएँ तथा जुलूस उम्मीदवारो और पार्टियो का प्रचार कर रहे थे। जिस तरह जगह-जगह हमें पं० नेहरू और कांग्रेस पार्टी का तिरंगा दिखाई दिया, उसी तरह कम्युनिस्टो और वाम पक्षीय दलो के संयुक्त मोर्चे का झण्डा गहरे लाल रंग का था। एक गाँव में हम कुछ उत्तेजित लोगों के छोटे-से जुलूस के पास से होकर गुजरे। वे लोग लाल झण्डे लिये हुए थे और सब मिल कर अपनी क्षेत्रीय भाषा में चिल्ला रहे थे—"कम्युनिस्ट पार्टी को वोट दो!"

बाद को दिल्ली वापस आने पर चुनावों के परिणामो से हमें पता चला कि राज्यों में कम्युनिस्ट बहुमत प्राप्त करने में असफल रहे। १९५४ में नये चुनाव हुए और हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि कम्युनिस्टों की शक्ति धीरे-धीरे घटती हुई प्रतीत हो रही थी।

शाम के समय हम कन्याकुमारी पहुँचे। यहाँ भारत के चरणों मे, एक छोटी-सी लड़की मे मेरी भेंट हुई और मेरा खयाल है कि मै उसे बहुत समय

तक याद रखूंगी। उसका नाम मेरी था और वह कोई दस बरस की लगती थी। हमें वह समुद्र तट पर मिली, जहाँ वह अपनी बनायी हुई शंख की सुन्दर-सुन्दर मालाएँ बेचने के निश्चय से हमारे पास आयी थी। जब हमने उसकी इच्छा पूरी कर दी, तब उसने तुरन्त अपने चेहरे की गम्भीरता और व्यापारिक मनोवृत्ति का नकाब उतार फेंका और बचे हुए सामान को अपनी जेबों में ठूंस कर समुद्र तथा रेत में खेलने वाली बालिका जैसी बालिका हो गयी। हम तट पर टहलते हुए आगे बढ रहे थे और वह हमारे आगे-आगे दौड़ लगाती हुई उन लहरों के साथ, जो पैरों को छूने की असफल चेष्टा कर रही थी, खिलवाड़ करती जा रही थी। उसकी कल्पनापूर्ण सहायता से सैली, सैम और मैंने रेत का एक सुन्दर महल बनाया।

जब हम वहाँ से चले, मेरी निर्जन तट पर वहीं खड़ी थी, जहाँ वह हमें मिली थी। वह वैसी ही उन्मुक्त थी जैसी की वायु; वैसी ही चंचल थी जैसी कि समुद्र की लहरें और वैसी ही प्यारी थी जैसी कि रेत और उसके खेलने के सुन्दर घोंघे!

भारतीय प्रायद्वीप के अन्तिम सिरे—कन्याकुमारी के तट पर खड़े हो कर मैंने अपने को बिलकुल एकाकी और संगीहीन महसूस किया। मेरे पैरों के पास गहन नीलिमा से युक्त जलवाला अरब सागर, बंगाल की खाड़ी और हिन्द-महासागर आपस में मिल कर दक्षिण की ओर दृष्टि से भी परे तक फैले हुए थे। न जाने कैसे मैंने अनुभव किया कि मुझे कोई समुद्र, वायु, आकाश और सामने के सुन्दर नारंगी रंग के सूर्यास्त के विशाल-विस्तार में धकेल रहा था। मेरे पीछे थी—आगे बढती हुई प्रायद्वीप की असख्य जनता।

वहाँ अकेले खड़े-खड़े मुझे ब्रह्माण्ड दो बिलकुल भिन्न भागों में बँटा हुआ प्रतीत हुआ हो। समुद्र, वायु और आकाश का विशाल-विस्तार जो मेरे सामने फैला हुआ था, मुझे एक भाग का प्रतीक जान पडा। इसे मैंने प्रकृति की महानता की संज्ञा दी थी। वह अत्यन्त सुन्दर थी, किन्तु अलिप्त और अकेली।

मेरी पीठ के पीछे फैले हुए भारत की विशाल जन-संख्या मुझे ब्रह्माण्ड के दूसरे भाग का प्रतीक जान पड़ी। यह भाग था मनुष्य जाति का, मानवता का। यह बड़ा अपनत्वपूर्ण, सहृदय और मित्रतापूर्ण था। फिर भी बहुधा प्रबल और समझ में न आनेवाला तथा कृत्रिम रूप से छोटे-छोटे और संघर्ष-रत दलों

और आगे वढ कर अलग-अलग व्यक्तित्वों में वँटा हुआ था।

दूसरे दिन हमने त्रिवेन्द्रम से, जो पश्चिमीघाट से पचास मील दूर था, रवाना होकर दक्षिण भारत से विदा ली। पहले ही मैंने देश को दो सामान्य भागो में वाँट दिया था—एक उत्तर भारत और दूसरा दक्षिण भारत। दक्षिण में आने से पूर्व मे उस भारत को प्यार करने लगी थी, जो दिल्ली और आम-तौर पर शुष्क तथा रगीन उत्तरार्द्ध में प्रतिविम्वित था। अव दक्षिण भारत के हरे-भरे जल-प्लावित और गम्भीर प्रदेश में दो सप्ताह विता लेने के वाद मे भारत को और भी अधिक प्यार करने लगी तथा मुझे अपने इस कथन में और अधिक औचित्य जँचने लगा कि मैं भारत को प्यार करती हूँ।

छः

गांधीजी का 'सेवाग्राम'

भारत के मध्यप्रदेश में, मानो उसके हृदय में, एक छोटा किन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण गाँव है जिसका नाम है—सेवाग्राम। उस छोटे-से गाँव का यह 'सेवाग्राम' नाम और उसका महत्व नया ही है। वैसे तो गाँव पुराना है और १९३५ के वसन्त तक किसी भी भारतीय गाँव जैसा ही एक गाँव था। तभी सारे राष्ट्र में सम्मानित महात्मा गांधी वहाँ रहने के लिए गये।

गाँव के किनारे गाधीजी ने एक आश्रम की ऐसी जगह स्थापना की, जहाँ वे तथा दूसरे लोग गाधीजी के सिद्धान्तो के अनुसार रह सकें। सेवाग्राम में इस प्रकार के आश्रम की सृष्टि उन्होंने मुख्यतया यह सिद्ध करने के लिए की कि भारत के पिछड़े-से-पिछड़े गाँव मे भी एक शिष्ट-समाज का विकास किया जा सकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में गाधीजी और उनके दो शिष्यो—आर्यनायकम् और उनकी पत्नी आशादेवी ने जो मुख्य कदम उठाया वह था—"नयी तालीम" नाम की नयी शिक्षा-पद्धति का निर्माण, जिसे सेवाग्राम की पाठशालाओ में कार्य रूप में परिणत किया गया। गांधीजी का विश्वास था कि "जीवन में कोई छोटी-से-छोटी चीज भी ऐसी नहीं जिसका शिक्षा से सम्बन्ध

न हो।" इसीलिए वे अपनी इस नयी शिक्षा-पद्धति को "जीवन के लिए शिक्षा" कहते थे।

शिक्षा और जन-स्वास्थ्य के प्रति स्टेव को विशेष रुचि है; अतएव सेवाग्राम जाने की उनकी बड़ी इच्छा थी। इसलिए सन् १९५२ की जनवरी के मध्य में एक संध्या को वह, सैली, सैम और मैं दिल्ली रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर जानेवाली गाडी पर सवार हुए और दूसरे दर्जे के एक छोटे डिब्बे में आराम से बैठ गये। जल्दी ही हमारी गाड़ी धीमी चाल से स्टेशन के पार हुई। फिर उसने रफ्तार पकडी। शहर पीछे रह गया और रेल अंधेरे को चीरती हुई आगे बढ़ने लगी। हम दूसरे दिन रात को वर्धा पहुँचनेवाले थे, जो सेवाग्राम से पाँच मील की दूरी पर एक छोटा-सा स्टेशन है।

हमारे डिब्बे में चमड़े के गद्दोवाली दो सीटें नीचे थी। दीवार से लगी हुई दो सीटें ऊपर भी थी। इस प्रकार चार व्यक्तियो के सोने की व्यवस्था थी। सभी भारतीय रेलो के डिब्बो की तरह यह डिब्बा भी बहुत लम्बा था। दोनो तरफ एक-एक दरवाज़ा था और लोहे की छडो वाली दो-दो खिड़कियाँ थी जो खुल सकती थी। छत में एक बिजली की बत्ती और पखा लगा हुआ था। आगे-पीछे के डिब्बो से उसका कोई सम्बन्ध न था। इसलिए जब-तक गाड़ी किसी स्टेशन पर न रुके तब तक उसमें से कही आना-जाना नही हो सकता था।

उस रात को केवल हम लोग ही उस डिब्बे में थे और रेल के पहियों की आवाज़ की थपकियो के बीच हम खूब आराम से सोये। फिर भी स्टेशन पर रुकने के समय खोमचेवालो की चीख-पुकार से हमारी नीद बीच-बीच में उचट जाती थी। रात के वक्त रह-रह कर "नारगी, नारगी, अच्छी-अच्छी नारंगी!"; "गरम दूध, गरम दूध"; "दाल-सेव, दाल सेववाला;" "चाय, चाय, गरम-चाय" की आवाज़ें रह-रह कर गूंज उठती थीं। मेरे भारत से रवाना होने तक ये आवाज़ें मेरी रेल-यात्रा के समय की नीद और सपनो की मनोरजक पृष्ठभूमि बन चुकी थीं; किन्तु उस रात को आवाज़ें अपरिचित और नयी थी, जिन से हम जाग जाते थे।

कभी-कभी खोमचेवाले की आवाज़ के साथ कोई भिखारी अपनी आवाज़ मिला देता था। एक जगह एक चचल-से लड़के ने खिड़की में सिर डाल कर

झाँका और गिड़गिड़ा कर बोला—"दो पैसा दो, मेम साहब; माँ नही है, मेम साहब !—भूखा हूँ !" किन्तु वह खुब अघाया हुआ और तगडा दीखता था इसलिए हमने सोने का बहाना कर लिया; किन्तु दूसरे विकृत अंगवाले अपाहिज और मरियल भिखारियो से पीठ मोड़ लेना इतना आसान नही था।

अगले रोज़ दिन में गाडी जहाँ भी रुकती—कोई घण्टे-घण्टे भर बाद वह रुकती थी—हम बार-बार पानी पीने, कुछ फल खरीदने या सिर्फ अपने पैर सीधे करने के लिए डिब्बे से उतर जाते थे। हम एक सिरे से दूसरे सिरे तक चक्कर लगाकर पहले, ड्योढ़े और तीसरे दर्जे के डिब्बों का निरीक्षण करते थे।

पहले दर्जे का डिब्बा हमारे दूसरे दर्जे के डिब्बे से भिन्न नही लगता था; सिवाय इसके कि उसमे कम लोगो के बैठने का प्रबन्ध था और शायद उसकी गद्दियाँ ज़रा ज्यादा नर्म थी। पहले दर्जे के टिकट का मूल्य हमारे दूसरे दर्जे के टिकट से लगभग दूना था और वास्तव में बहुत कम लोग इतना ज्यादा खर्च उठा सकते थे। मेरी समझ मे नही आता कि आखिर लोग पहले दर्जे में यात्रा क्यो करते हैं; सिवाय इसके कि वे इसी मे अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं।

ड्योढे दर्जे के डिब्बे दूसरे दर्जे के डिब्बे से ज़रा बडे थे लेकिन उनमें बहुत ज्यादा लोग बैठे थे। उनमें बैठने की बेंचो जैसी सीटे कम चौड़ी थी और उन पर चमड़े के पतले गद्दे लगे हुए थे। तीसरे दर्जे के डिब्बो में हमेशा ही बुरी तरह भीड-भाड़ रहती है और उनकी कम चौड़ी सीटों पर गद्दे नही होते हैं। दिल्ली से वर्धा तक के दूसरे दर्जे के प्रत्येक टिकट के लिए हमे लगभग साठ रुपये अथवा करीब बारह डालर देने पड़े थे। तीसरे दर्जे के टिकट के शायद बीस रुपये या चार डालर से अधिक नहीं लगते।

बाद को, मैंने जब कभी अकेले यात्रा की—मैं हमेशा तीसरे दर्जे में ही बैठती। वही मैं सभी प्रकार के भारतीयों से मिली। मुझे उनसे बातें करने, उनके साथ भोजन करने और उनके बच्चों के साथ खेलने का मौका मिला।

ये तीसरे दर्जे की यात्राएँ, और दूसरे दर्जे में सेवाग्राम की यात्रा भी उस यात्रा से कितनी भिन्न थी, जो एक महीने बाद हमने पहले दर्जे से भी बढिया दो डिब्बो में नेपाल जाने के लिए की थी—और मुझे कैसी अजीब अनुभूति हुई थी। इस नेपाल-यात्रा की धूम-धाम मुझे नही सुहाई और मैंने चाहा कि काश ! इस प्रकार की धूम-धाम और सम्पन्नता का परम्परानुसार कूटनीतिज्ञों

और सरकारी अधिकारियो से अटूट सम्बन्ध न होता ।

मुझे विश्वास है कि रास्ते के स्टेशनो पर जो लोग हमें कौतूहल से देखते थे—वे उन लोगो के साथ, जिन्हे वे अपने से ऊँचा समझते थे, वैसा आचरण नही करते जैसा वे अपने मित्रो और बराबरवालो से करते हैं। इसीलिए मैं चाहती थी कि मेरे माता-पिता तथा दूतावास के दूसरे लोग जो हमारे साथ थे—किसी प्रकार अपनी हैसियत को छिपा कर उन लोगो के साथ बराबरी की हैसियत से मिलने-जुलने में समर्थ होते ।

हम उन लोगो का सही अध्ययन कर सकते है। हम एक-दूसरे का अभिवादन कर सकते हैं और साथ-साथ मुस्करा सकते है। हमारा इस प्रकार का मिलन मैत्रीपूर्ण होते हुए भी मर्यादित होता है। मेरा विश्वास है कि इस आधार पर कोई किसी व्यक्ति, उसके परिवार या उसके गाँव के लोगों के साथ वास्तविक, अनौपचारिक घनिष्ठता स्थापित नही कर सकता।

मुझे यह आवश्यक लगता है कि वे लोग तुम्हे अपनायें—या तो तुम्हारी असलियत के आधार पर—जिसमें दुर्भाग्य से काफी समय लगता है, या उन लोगो के व्यवहार, बोल-चाल और वेशभूषा से तुम्हारे समन्वय के आधार पर। मेरी कामना है कि दुनिया के लोगो को शीघ्र ही ऐसा अवसर और ऐसी इच्छा प्राप्त हो ताकि वे दूसरो को उनकी असलियत के आधार पर अपनाने के उद्देश्य से, एक-दूसरे को जाने। हर एक व्यक्ति महसूस करे कि वह वास्तव में दूसरो से भिन्न नही है और जो भिन्नताएँ विद्यमान हैं, वे मैत्री के मार्ग में बाधक नही होनी चाहिएँ।

पहले दर्जे की भव्य नेपाल-यात्रा का एक और पहलू था, जिसने मेरे विचारो को झकझोरा, उसी तरह जिस तरह औरो के विचारो को झकझोरा था। गाधीजी ने एक बार कहा था कि "जब तक एक भी स्वस्थ औरत या मर्द बेकार या भूखा रहता है, तब तक हमें आराम करने या भर पेट भोजन करने में शर्म आनी चाहिए।" इसीलिए गांधीजी कम-से-कम भोजन करते थे और उतना ही आराम करते थे जितना कि अनिवार्य था। बाकी समय वे इस चिन्ता में लगाते थे कि भारत के प्रत्येक नर-नारी को काम और भोजन मिले।

मैं इस में विश्वास नही करती जैसा गांधी जी करते थे, कि चूँकि और

लोग "भूखे या बेकार" हैं, इसलिए हमें भोजन और आराम करने में लज्जा आनी चाहिए; किन्तु मै यह अवश्य मानती हूँ कि ज़रूरत से ज्यादा भोजन, ज़रूरत से ज्यादा आराम और धन का बहुत अधिक दिखावा जैसी चीज़ें भी होती हैं। एक ऐसी सीमा है, जहाँ व्यक्ति महसूस कर सकता है कि वह मज़े में है। प्रत्येक व्यक्ति रोज़ी, चिन्ता-रहित और भरे-पूरे घर, अच्छे भोजन और इच्छा अथवा ग्रहण-शक्ति के अनुसार अधिक-से-अधिक शिक्षा के रूप में उस सीमा को प्राप्त करने का अधिकारी है। इस सीमा के पार, बाहुल्य प्राप्त करना, मेरे खयाल से अनावश्यक और अनुचित है।

इसलिए मुझे खेद था कि हमारी नेपाल-यात्रा इतनी धूम-धाम की थी; किन्तु शिष्टाचार के अनुसार ऐसे महत्वपूर्ण अवसर पर इस प्रकार की धूम-धाम हमारे लिए आवश्यक थी। इसकी तुलना में हमारी सेवाग्राम की यात्रा शारीरिक रूप से न सही, मानसिक रूप से कितनी आरामदेह थी। गाड़ियो की तरह स्टेशनो पर भी भीड़-भाड़ थी। कुली सिर पर ट्रंक या बड़े सन्दूक या पिटारियाँ उठाये प्लेटफार्म पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड लगाकर खाली जगह के लिए रेल की खिड़कियो में झाँकते थे। परिवार-के-परिवार उनके पीछे चले जाते थे। प्लेटफार्म पर खोमचेवाले अपने छोटे-छोटे ठेले ढकेलते हुए या अपनी डलियो को बड़ी सावधानी से उठाये हुए भीड में धक्कम-धक्का करते हुए चले जाते थे और बीच बीच में अपने सामान की ज़ोरों से आवाज़ें लगाते जाते थे। एक व्यक्ति खिड़की-खिड़की जाकर यात्रियो के पीतल के लोटे या मिट्टी के बर्तनों को पीने योग्य पानी से भरता था; डिब्बों में तो पानी की व्यवस्था थी नही।

गाडी काफ़ी देर तक ठहरती थी और यात्रियो के परिवार प्लेटफार्म के किनारे बैठकर भोजन या आराम करते थे, नल के चारो ओर जमा होकर पानी पीते और स्नान करते थे। लोग अपने पीतल के लोटे भर-भर कर अपने ऊपर उडेल कर नहाते थे; वे बडी होशियारी से साफ़ धोतियां बदल कर उस धोती को, जिसे अब तक पहने हुए थे, धोकर धूप में सूखने के लिए फैला देते थे।

धूल-धूसरित किन्तु आराम-दायक यात्रा के बाद हम वर्धा पहुँचे। एक लम्बा व्यक्ति, जो घर के कते हुए सूत की सफेद पोशाक पहने हुए था, तुरन्त हमारे पास आया। उसने हमारा अभिवादन किया और आर्यनायकम् के नाम

से अपना परिचय दिया। हम जानते थे कि आर्यनायकम् अपनी पत्नी आशा-देवी के साथ—दोनो बाद को मेरे माता-पिता के घनिष्ठ मित्र हो गये—सेवा-ग्राम की बुनियादी शिक्षा पाठशाला का सचालन करते थे और गाधीजी के निकटतम सहयोगियो में से थे।

जब हम एक पुरानी मोटर में बैठ कर कच्ची सडक से आश्रम जा रहे थे, तब (मुझे लगा कि अच्छा होता यदि मैं पैदल चलती) हमारे मेजबान ने दुग्धशाला, अस्पताल और पुस्तकालय की ओर सकेत किया, जिन्हे हम दूसरे दिन सुबह देखने वाले थे। हम आश्रम ठीक ऐसे वक्त पहुँचे कि सध्या की प्रार्थना में अन्य लोगों के साथ शामिल हो सके।

तारो-भरे धुंधले आसमान के नीचे हम चुपचाप जमीन पर, सभा में एक किनारे बैठ गये। प्रार्थनाएँ मराठी और हिन्दुस्तानी में गायी गयी, इसलिए हम उन्हे समझ नही सके; किन्तु एक की वाक्य-रचना से मुझे लगा कि वह 'लार्ड्स प्रेअर' (बाइबिल में उल्लिखित एक प्रार्थना) होगी। बाद को हमें पता चला कि उस रात को हमने जिन प्रार्थनाओ को सुना था, वे प्रार्थनाएँ सभी धर्मों की थी और 'लार्ड्स प्रेअर' भी उन में थी। सवर्ण और हरिजन, हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी एकत्र होकर कुरान, बाइबिल और भगवद्गीता के पाठ से ईश्वर की स्तुति की गयी थी। वहाँ शान्ति थी—नीरव और आनन्ददायक।

प्रार्थना सभा के बाद हमारे मेजबान श्री आर्यनायकम् और उनकी पुत्री मीट्ठू, जो मेरी ही उम्र की थी, हमें वह छोटी-सी मिट्टी की पावन कुटिया दिखाने ले गये जिस में गाधीजी, जब कभी भी उन्हे जेल से फुरसत मिलती थी, सेवाग्राम आकर रहा करते थे। उनकी बहुत थोड़ी-सी और सादी चीजें वैसी ही रखी थी, जैसी वे उन्हें छोड गये थे।

भारतीयो के लिए वह कुटिया पावनतम स्थान है और उस छोटे-से कमरे में खडे होकर कोई भी व्यक्ति आवाज करके नहीं बोला। वास्तव में मेरी भी बोलने की इच्छा नहीं हुई।

गाधीजी की कुटिया से कुछ सौ गज की दूरी पर मिट्टी और बाँस की सादी-सी अतिथिशाला थी, जहाँ हमें ठहरना था। हमने वहाँ पहुँच कर भारतीय भोजन किया, जो लगभग आश्रम के बगीचे में उगी हुई चीजो से ही तैयार किया गया था। भोजन बिलकुल सादा और बहुत ही कम मसाले का था; लेकिन था

बड़ा अच्छा—भात, चपाती, भाजी, दाल और एक मिठाई।

गांधीजी के स्वप्नो मे एक स्वप्न यह भी था कि एक दिन भारत का प्रत्येक गाँव आत्म-निर्भर हो जाय। उन्होने एक वार कहा था—"ग्राम-स्वराज्य से मेरा आशय यह है कि हर गाँव पूर्ण गण-राज्य हो, अपनी आवश्यकताओ के लिए पड़ोसियो पर किंचित्‌मात्र भी निर्भर न हो। परन्तु उन वातो में, जिनमे एक दूसरे पर निर्भर रहना आवश्यक है, वे एक दूसरे पर निर्भर हों। इस प्रकार प्रत्येक गाँव का सर्वप्रथम काम होगा कि वह अपने खाने-पहनने के लिए अन्न और कपास उत्पन्न करे। पशुओ के लिए चरागाह हो; प्रौढ़ो और बच्चो के लिए मनोरंजन तथा खेल के मैदानो की व्यवस्था हो; गाँव का अपना नाट्य-गृह, पाठशाला और सार्वजनिक सभा-भवन हो। बुनियादी पाठ्यक्रम तक शिक्षा अनिवार्य हो। जहाँ तक सम्भव हो, प्रत्येक काम सहकारिता के आधार पर किया जाय।" सेवाग्राम यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा था कि एक दिन सारे भारत में इस लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है।

सेवाग्राम मे नौकर थे ही नही। आर्यनायकम्‌ की पुत्री मीट्ठू और उसकी सहेलियों ने हमारे लिए भोजन तैयार किया था। सोने से पहले मीट्ठू से मेरी वातें हुईं। उसने सेवाग्राम महा-विद्यालय में शिक्षा पायी थी। अपनी अधिकाश सहेलियो के विपरीत वह अंग्रेज़ी जानती थी। उसने वताया कि आश्रम के प्रत्येक व्यक्ति को इस वात से आश्चर्य हुआ कि हम अपने साथ कोई नौकर नहीं लाये थे और हम में से प्रत्येक के पास केवल एक-एक झोला था, जिसमें हमारे पहनने के कपड़े थे (हमें वहाँ सिर्फ दो दिन ठहरना था)। मुझे उनके आश्चर्य पर विस्मय हुआ।

मैंने उसे वताया कि अमरीका में वहुत ही कम लोगो के पास नौकर हैं और चूंकि हमारे पास नौकर नही हैं, इसलिए हम सिर्फ जरूरी सामान लेकर यात्रा करते हैं। हम अमरीकी हैं और मै नही समझती कि यह वात या कोई अन्य वात हमें यह अधिकार प्रदान करती है कि हम दिखावा करें। मैंने कहा कि अमरीकी होने के नाते हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि अमरीकी अपने देश में करते हैं; तव तक, जव तक कि हमारे इस व्यवहार और भारतीय रिवाज में किसी तरह का संघर्ष न पैदा होता हो।

मीट्ठू ने स्वीकार किया कि हमारे लिए नौकरो का साथ में लाना अस्वा-

भाविक होता। उसने मुझे बताया कि प्रायः जब "विशिष्ट" व्यक्ति वहाँ आते हैं तो उनके साथ नौकर-चाकर तथा बहुत-सा सामान होता है। मैं सोचने लगी कि मीठू तथा आश्रम के अन्य लोगो को भी ऐसे लोगो के परावलम्बी और उलझन भरे रहन-सहन के प्रति वैसा ही खेद होता था या नहीं जैसा कि मुझे हुआ। हम जरा नीचे, तखतनुमा, मच्छरदानी लगे हुए और रजाई से ढँके हुए बिछौनों पर सोये। रात बड़ी सुहावनी थी।

सेवाग्राम को गांधीजी के आश्रम के लिए, उनके इस निश्चित आदेशों के अनुसार चुना गया था कि वह भारत के निर्धनतम भाग में निर्धनतम गाँव होना चाहिए। उनकी एक शर्त यह थी कि वहाँ तब तक बिजली नहीं होनी चाहिए, जब तक कि वह इतनी सस्ती न हो जाय कि निर्धनतम ग्रामीण भी उसे पा सके। जो लोग जाग रहे थे, वे मिट्टी के तेल की लालटेनो की मन्द रोशनी में अपना काम कर रहे थे।

सुबह के पहले प्रकाश में किसी ने धीमे से हमें जगाया। हम कपड़े पहन कर ६॥ बजे आश्रम के भोजन-गृह में नाश्ता करने के लिए तैयार हो गये, किन्तु हम अपेक्षाकृत अधिक सोने वाले थे। बहुत जल्दी सोकर उठनेवालो में से कुछ लोग ४॥ बजे की प्रार्थना-सभा में हो आये थे। सारा आश्रम ५॥ बजे तक जग कर सवेरे के कामों में—खास तौर से नाश्ते की तैयारी में—लग चुका था।

भोजनकक्ष स्कूल और कालेज के विद्यार्थियो और उनके अध्यापकों से भर गया था, जिनमें सभी जाति और धर्म के लोग थे—जो कच्चे फर्श पर पंक्ति में बैठे हुए थे, हम भी बैठ गये और हमें ताँबे का एक-एक खाली गिलास दिया गया। तभी विद्यार्थियो के दल ने प्रवेश किया, जिनके हाथो में दलिया से भरी हुई एक बड़ी बालटी और गर्म दूध के बर्तन थे। जब सबको नाश्ता परोसा जा चुका, तब एक छोटी-सी प्रार्थना और स्तुति-गान हुआ।

जैसे ही किसी का खाना समाप्त होता, वह अपना गिलास और कटोरी लेकर बाहर चला जाता और राख से माँज-धो कर उन्हें साफ कर देता। फिर आश्रम के विद्यार्थी पूर्व-निर्धारित दलो में बँट कर रसोई के बर्तनो को साफ करने, फर्श बुहारने, कुएँ से पानी लाने जैसे छोटे-छोटे कामो में लग गये।

विद्यार्थियो का बाकी समय अपनी कक्षा में कृषि-कार्य पर बीतता था (प्रत्येक विद्यार्थी औसतन प्रतिदिन दो घण्टे कृषि-कार्य करता था)। फुरसत के

समय वे इच्छानुसार पढना, कपडे धोना, कातना आदि कोई भी काम कर सकते थे। कताई का काम सबसे ज्यादा लोकप्रिय था। यह काम लाभदायक होने के साथ-साथ आराम-देह भी था और चिन्तन तथा एकाग्रचित्तता के लिए अवसर देता था।

नाश्ते के पश्चात् जब धरती पर ओस अभी मौजूद ही थी, हम खेतों में गये और हमने तरकारियाँ, बाजरा, मक्का और कपास की उत्तम फसलें तथा केले, संतरे और पपीते के कुंज देखे। इनमें से अधिकाश फसले इमसे पूर्व इस क्षेत्र में गाँववालों ने कभी पैदा नही की थी। जब गांधीजी इस गांव में पहले-पहल आये, तब इस क्षेत्र मे कपास और अरडी के अतिरिक्त शायद ही किसी चीज़ की खेती होती थी।

हमने कॉलेज के एक विद्यार्थी को एक कुएँ के चारों ओर खूब तगडे बैलों की जोडी हाँकते हुए देखा। इस प्रकार वह रहँट की बाल्टियों की माला से साफ पानी निकाल रहा था। पानी निरतर छोटी-छोटी नालियों मे होकर टेढे-मेढ़े रास्तो से बगीचे में पहुँच रहा था, जहाँ अन्य विद्यार्थी काम कर रहे थे। कॉलेज के लड़के धूप में कृषि का काम करके अपने हाथ गन्दे कर रहे थे यह भारत मे नयी बात है; किन्तु यह काम सेवाग्राम के विद्यार्थी की शिक्षा का बहुत महत्वपूर्ण अग है।

हम खेतों से लौटकर मुर्गीखाना और दुग्धालय देखने गये। ये दोनो गाँव के साधारण-से-साधारण मुर्गीखाने और गोशाला से जरा ही बढ़ कर थे; किन्तु थे खूब साफ़ सुथरे और हवादार। हर चीज बिलकुल सादी और ऐसी थी कि औसत गाँववाला उसे समझ सके। चूँकि मुर्गियाँ और मवेशी स्वस्थ थे और अच्छी खुराक पाते थे इसलिए यहाँ की मुर्गियाँ उतने अण्डे और गायें उतना दूध देती थीं, जितना कि गाँववाले पहले असम्भव मानते थे। छोटे-छोटे परिवर्तनो ने महान् सुधार कर दिये थे।

वहाँ से हम आश्रम के छोटे पुस्तकालय में गये। वहाँ का पुस्तकाध्यक्ष दक्षिण आफ्रीका से आया हुआ एक वृद्ध जर्मन था। पुस्तकालय में शायद कुछ सौ ही किताबें थी लेकिन वे कई भाषाओ और विषयो की थी।

फिर हम पूर्व-बुनियादी शाला में गये जो सात साल के बच्चो के लिए थी। एक नौजवान शिक्षक ने उस छोटे-से स्कूल को हमें दिखाया। अधिकांश बच्चे

उस रुई को—जिसे उन्होंने उगाया और हाल में तोड़ा था—साफ करने, धुनने और कातने में लगे हुए थे। कुछ बच्चे गा-गा कर काम कर रहे थे। सभी प्रसन्न, समझदार और साफ-सुथरे नज़र आते थे।

शिक्षक ने बताया कि अधिकांश बच्चे दिन के समय सेवाग्राम के गाँव से आते हैं। कपास उगाना सिर्फ हाथ का काम नहीं है। कपास उगाकर और चुन कर छोटे बच्चे सामान्य विज्ञान भी सीख जाते हैं, और उन्होंने कितना उगाया और कितना काम किया—इससे उन्हें गणित का भी बोध हो जाता है। विश्व में जिन स्थानों पर कपास पैदा होती है और उनकी अपनी उगायी हुई कपास कहाँ तक पहुँच सकती है, इस विषय पर चर्चा करके वे भूगोल सीख जाते हैं। और उन देशों की शासन-व्यवस्था तथा वहाँ के लोगों के बारे में जो बात होती है, उससे उन्हे सामाजिक ज्ञान हो जाता है।

यह है गाधीजी की बुनियादी शिक्षा का व्यावहारिक रूप—जो किसी कदर अमरीका के उन सार्वजनिक स्कूलों में व्यवहृत "काम द्वारा शिक्षा" पद्धति से मिलता-जुलता है, जहाँ मैं पढी थी। भारत में जो स्कूल बन रहे हैं, उनमें से अधिकांश इस बुनियादी-शिक्षा के पाठ्यक्रम को अपना रहे हैं।

बाद को तीसरे पहर हमने उस क्षेत्र के अस्पताल का निरीक्षण किया जो आश्रम से मील-दो-मील की दूरी पर है। यह अस्पताल आश्रम के आसपास के लगभग ७५ गाँवों की सेवा करता है। ग्रामीण-चिकित्सा का अनुसधान-केन्द्र होने के अलावा यहाँ बुनियादी शिक्षा-विभाग के शिक्षार्थी अध्यापकों को भी प्रशिक्षण दिया जाता है ताकि उन गाँवों में, जिन में किसी प्रकार की चिकित्सा सम्बन्धी सहायता उपलब्ध नहीं है, वे स्कूल के चिकित्सालय चला सकें।

सेवाग्राम से हम मोटर द्वारा वर्धा के अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सघ को देखने गये। इसे भी गाधीजी ने शुरू किया था। यहाँ भारत के अनेक भागों के कारीगरों को कागज बनाने, मिट्टी के बर्तन तैयार करने, साबुन बनाने, तेल निकालने और मधुमक्खी पालने की शिक्षा दी जाती है। ये सब काम पेचीदी मशीनों के बिना होते हैं।

अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सघ का भवन दर्शनार्थियों के लिए इसलिए खुला रहता है, कि ऐसे उद्योगों में रुचि बढे। इस सगठन को चलानेवाले लोगों का गाधीजी की तरह ही विश्वास है, कि यदि ग्रामीणजन सामान्य

ग्रामोद्योग का विकास करे तो जो वनस्पति-सामग्री इस समय बर्बाद हो जाती है, उसे उपयोग में लाया जा सकता है और जो किसान खेतो पर काम न होने के समय बेकार रहते है, उन्हे पूरे वर्ष काम और कमाई का एक नया ज़रिया मिल सकता है।

उस रात को प्रार्थना-सभा के कुछ देर बाद सोने से पहले, मैंने पहले से भी अधिक प्रबलता के साथ अपने चारो ओर शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव किया। मैंने सोचा कि सेवाग्राम का यह सामुदायिक रहन-सहन, काम-काज, शिक्षा-दीक्षा और खेलकूद कितना शान्तिपूर्ण क्रान्तिकारी है। तब मेरी समझ में आया कि क्यो बहुतों के लिए सेवाग्राम भारत की भावी आशा का प्रतिनिधि और देश की महान् सामाजिक क्रान्ति का अगुआ है। अब मैं सेवाग्राम को सेवा के गाँव से अधिक मानने लगी थी। वह शान्ति और आशा का गाँव है।

गांधीजी ने एक बार कहा था—"जब हमारे गाँवो का पूरी तरह से विकास हो जायगा, तब उनमें ऊँचे दर्जे की बौद्धिक और कलात्मक प्रतिभावाले लोगों की कमी नही रहेगी। गाँव के कवि होगे, गाँव के कलाकार होगे, गाँव के भवन निर्माण-विशारद होगे, भाषा-शास्त्री होगे और अनुसधान का काम करनेवाले लोग होगे। संक्षेप में जीवन की कोई ऐसी वाछनीय चीज़ बाकी नही रहेगी जो गाँवो में नही होगी। आज भारत के गाँव गोबर के ढेर हैं। कल वे छोटे-छोटे नन्दनवन बनेंगे, जिन के निवासी प्रतिभावान होंगे; जिन्हें न कोई धोखा दे सकेगा, न जिनका कोई शोषण कर सकेगा।"

गाधीजी आशावादी थे, किन्तु बहुत ही व्यावहारिक भी। यदि "छोटे नन्दनवनो" वाले भारत का कभी उद्भव हुआ, तो सेवाग्राम के सामुदायिक जीवन और विकास का उदाहरण तथा वह नयी शिक्षा-पद्धति, जो सेवाग्राम के स्कूलों में चरितार्थ हो रही है, उसके निर्माण की दिशा में वे एक महत्वपूर्ण कदम माने जायेंगे।

अगले दिन सुबह नाश्ता करने के बाद ही हमने अपने मित्रो से और सेवाग्राम से विदा ली। हमें आर्यनायकम् से बिछुडने का विशेष रूप से दुःख हो रहा था। हम महसूस कर रहे थे कि भारत के विकास के आगामी अत्यन्त

महत्वपूर्ण वर्षो में मार्गदर्शन के लिए वैसा ही विश्वास चाहिए जैसा आर्यनायकम् का था।

हम सेवाग्राम से नागपुर के लिए रवाना हुए, जहाँ हमें नयी दिल्ली के लिए वायुयान पकड़ना था। रास्ते में हम विनोवा भावे के छोटे-से आश्रम पर ठहरे। आश्रम तो अधिक प्रभावशाली नही था; किन्तु विनोवा जी का बहुत नाम था। उन्होंने स्वाधीनता-संग्राम में गांधीजी के साथ ही काम किया था और प्रधान मंत्री नेहरू को छोड़कर भारतीय जनता शायद उन्हें ही सब से अधिक जानती है।

सन् १९५१ में विनोवाजी ने भूदान-यज्ञ के नाम से एक आन्दोलन शुरू किया। विनोवाजी का विश्वास है, जैसा औरो का भी है कि भूमि-सुधार और भूमि का पुनर्वितरण नये राष्ट्र के रूप में भारत की उन्नति का बहुत महत्वपूर्ण अग है। वे यह भी महसूस करते हैं कि चूकि धारासभाओ में भूस्वामियो का प्रभाव है, इस वजह से इस मामले में सरकार बहुत धीमी गति से काम कर रही है।

अतएव एक गाँव से दूसरे गाँव, देश के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त, की पैदल-यात्रा करके विनोवाजी उन लोगो से—जिनके पास भूमि है, यह माँग करते हैं कि वे अपनी कुछ भूमि उन्हें दें, जो भूमिहीन हैं। जमींदारो से विनोवाजी कहते हैं, "मैं तुम्हें प्यार से लूटने आया हूँ। भारत के बहुत-से लोग भूमिहीन हैं। यदि तुम में से किसी के पाँच पुत्र मौजूद हो तथा बाद में छठा पुत्र और हो जाय, तब तुम अपनी सम्पत्ति को पाँच के बजाय छ भागो में बाँटोगे। मैं भूमिहीनों की ओर से तुमसे छठा भाग माँग रहा हूँ। मुझे अपना छठा पुत्र समझो।"

इस सीधे-सादे अनुरोध का उल्लेखनीय परिणाम निकला है। आन्दोलन शुरू करने के बाद से अब तक विनोवा जी को ४० लाख एकड से अधिक भूमि प्राप्त हो चुकी है, जिसे जल्दी से जल्दी भूमिहीन किसानो में बांटा जा रहा है।

दूसरे दिन स्कूल में मैंने सोचा कि सुमन और दिल्ली पब्लिक स्कूल के मेरे अन्य मित्र यदि देश के इस विकास-काल में उनकी अधिक-से-अधिक सेवा

वात है कि उनमें से अधिकांश की आँखें जल्द ही खुल जाती हैं और वे उससे सम्वन्ध विच्छेद कर लेते हैं।

मुमन की नानी और माँ ने गाँव में काम करने की वात कभी सपने में भी न सोची होगी। मुमन ने यह वात सोची। शायद उस का वच्चा गाँवो में काम कर सकेगा और तव अगर उसका विरोध होगा भी तो वहुत मामूली।

मेरा विश्वास है कि वह दिन दूर नही, जव ६००,००० गाँवो को—दूरवर्ती निर्धनता-ग्रस्त मिट्टी के घरौंदे नही, वल्कि शहरो के निकटतम पड़ोसी और भारतीय जीवन का सवसे महत्वपूर्ण केन्द्र माना जायगा।

सात

समस्यापूर्ण वच्चे

कुछ ही महीने वीतने पाये थे कि मै दिल्ली के पव्लिक स्कूल के अपने जीवन के प्रति असन्तोष का अनुभव करने लगी; उस समय तक मै नयी दिल्ली के अलावा भारत के अन्य भागों को भी देख चुकी थी और जान गयी थी कि दिल्ली की चौडी-चौड़ी, वृक्ष लगी सड़कें और वडे-वड़े आलीशान मकान किसी भारतीय नगर के तो कम प्रतीत होते थे, योरोपीय नगर के अधिक।

मै नया और डगमगाते हुए प्रजातंत्र का देश—नेपाल देख चुकी थी और अनोखा, शान्तिमय सेवाग्राम भी। मेरा खयाल है कि वास्तव में मुझमें असन्तोप वही जागा। मै वहुत-से भारतीयो और नेपालियो से तथा उनकी समस्याओ से परिचित हो चुकी थी। मैंने अन्य लोगो के कष्टों को देखा था, जिन्हे मै जानती नहीं थी और मैं चाहती हूँ कि उन्हे कष्ट नही भोगना चाहिए।

मुझे लगा कि करने को काम वहुत है; लेकिन उसे मन से करनेवालों की कमी है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि जो मुझसे हो सकता है, मै करूंगी। यद्यपि मैं जानती थी कि मै पन्द्रह साल की लड़की जितना कुछ भी करूंगी, कम ही होगा।

ग्रामर स्कूल के दिनों से ही मेरी रुचि नर्सिग के काम में थी। इसलिए एक

अंग्रेज़ महिला के ज़रिए, जिसे मेरी माँ जानती थी और जो दिल्ली के अस्पतालों में काम कर चुकी थी, मुझे १९५२ में मार्च के प्रारम्भ में इरविन अस्पताल के बच्चो के वार्ड में स्वेच्छा से काम करने का अवसर मिल गया। इरविन अस्पताल उन अस्पतालो में है जिन्हें दिल्ली सरकार से सहायता मिलती है।

पहले दिन वार्ड की संरक्षिका नर्स ने मेरे लिए एक आज्ञा-पत्र लिख दिया; किन्तु मुझे उसे काम में लाने की कभी ज़रूरत ही नही पडी। मै जब जी चाहे आती थी, जब जी चाहे चली जाती थी। पहले तो मार्च और अप्रैल में जब स्कूल की पढाई चल रही थी, मै ४॥ से ७ बजे तक या अक्सर उसके बाद भी ८-८॥ बजे तक काम करती थी। चूकि वह काम मुझे प्यारा था; इसलिए मै ज्यादातर घर लौटती थी, इस कारण कि घर जाना ज़रूरी था, इस कारण नही कि घर जाने की इच्छा होती थी। मई में जब स्कूल गर्मियो के लिए बन्द हो गया, मैं दोपहर के बाद तमाम दिन, कभी-कभी ७ बजे तक काम करने लगी। मैं रोज काम पर जाती थी और बिलकुल थक कर घर लौटती थी, फिर भी मैं बड़ी प्रसन्न रहती थी। बच्चो में घुल-मिल कर मैं अपनी छोटी-मोटी समस्याएँ भूल जाती थी।

वह वार्ड अस्पताल के काफी बड़े भाग में था। उसके एक ओर एक सिरे से दूसरे सिरे तक खुला हुआ बरामदा था, जिसकी वजह से कमरे में काफी रोशनी और हवा आती थी। वार्ड में दोनो ओर दो क़तारो में लगभग ४० पलंग थे। कभी-कभी रोगियों की संख्या पलंगो से बढ जाती थी। एक बार तो कम गम्भीर रोगियों के लिए १५ अतिरिक्त बिछौने फर्श पर ही लगाने पड़े थे। मुझे खुशी थी कि अस्पताल के नियम इतने कठोर नही थे कि अतिरिक्त रोगियो को भरती करने से मना कर दिया जाता।

मेरा वार्ड असक्रामक रोगो से पीडित बच्चो के लिए था, जिनमें से अधिकाश को चीर-फाड की ज़रूरत होती थी। वैसे तो किसी बच्चे के टॉन्सिल्स बढे होते थे, कोई जल गया होता था, किसी की हड्डी बेतरह टूटी होती थी और किसी को कोई स्पर्श-रोग होता था। कई सडक की दुर्घटनाओ के शिकार होते थे। एक छोटी लडकी जो मुझे बडी प्यारी थी, दृष्टिहीनता के एक नये-से रोग से पीडित थी जिसका इलाज हो सकता था। उसकी दशा के सुधार को मैं बड़ी उत्सुकता से देखती रही। अन्धता ने उसके जीवन में सूनापन भर

दिया था; इसलिए दूसरे बच्चों को देखने के लिए वार्ड का चक्कर लगाते वक्त मैं रोज़ाना उसे उसके बिस्तर से उठाकर अपने साथ ले जाती थी।

चिकित्सा के अलावा जो ध्यान मैं बच्चों की ओर देती थी उसके लिए वे लालायित रहते थे। अस्पताल में नर्सें बहुत कम थी और जिस प्रकार का काम मैं कर सकती थी, वह बहुधा नही हो पाता था।

चीरफाड के लिए बच्चो को बेहोशी की दवा दिये जाने की हालत को छोडकर मैं उन्हें पानी पिलाया करती थी; जिसकी गर्मी के दिनो मे बहुत ही माँग रहती थी। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, उन बच्चों ने मुझे काफी हिन्दुस्तानी सिखा दी और इस प्रकार मैं उन बच्चो के पास बैठ कर बातें करने लगी जो बातें कर सकते थे। कभी-कभी नर्सें किसी बच्चे को पेनिसिलिन का इजेक्शन देते समय उसे सम्हालने में मेरी सहायता लेती; या किसी के पट्टी बाँधते समय मुझे उसे बहलाने का काम देती। कभी मैं उनके खाने के वक्त भी मौजूद होती थी; तब जो बच्चे खुद खा नहीं सकते थे, मै उन्हे भोजन कराने मे हाथ बँटाती।

किन्तु, खिलौनो की अलमारी से मेरा जो सम्बन्ध था, वह बच्चों को सब से ज्यादा अच्छा लगता था। अधिकारी नर्स ने मुझे एक बड़ी-सी चाबी दे रखी थी। यह चाबी बरामदे की उस अलमारी की थी जो—गेंदो, गुड़ियों, मोटरो, ढोलों और पहेलियो जैसे अनेक खिलौनो व रगीन पेन्सिलो, रगों, चित्रो की कापियो, कहानी की किताबों आदि से भरी हुई थी।

ढोलो ने बडी समस्या पैदा कर रखी थी। ये ढोल नये-नये, चमकदार और बड़े आकर्षक थे। इस कारण सब खिलौनो में उनकी माँग सब से ज्यादा रहती थी। ढोल थे सिर्फ तीन और हर एक के लिए बच्चे आपस में छीना-झपटी करते रहते थे। सबसे ज्यादा मुश्किल थी उनके शोर के कारण। मैंने समझ लिया कि छोटे-छोटे बच्चो से ढोलो को धीरे बजाने के लिए कहना बेकार था। इसलिए एक दिन वे ढोल रहस्यपूर्ण ढग से वार्ड से छूमन्तर हो गये।

प्रतिदिन वार्ड में आते ही मै पहले वह बड़ी चाबी लेने जाया करती थी और पाँच-छः बच्चे जो चल-फिर सकते थे मुझे घेर लिया करते थे। मुझे उनकी नमस्ते और उनका शोर मचाकर यह कहना कि "बहनजी आयी हैं, बहनजी

आयी हूं !" बड़ा अच्छा लगता था। वे इसका पूरा खयाल रखते थे कि मैं रोजाना आते ही सबसे पहले खिलौनों की अलमारी खोलूं।

मैं प्रत्येक शैयाग्रस्त बच्चे के लिए एक-एक खिलौना ले जाती थी; उनसे 'नमस्ते' करती थी और ज़रा देर उनसे बातें करती थी। कभी-कभी कोई बच्चा कहानी सुनने की इच्छा प्रकट करता था। तब मैं यह इन्तज़ाम करके कि सभी बच्चों के पास कोई-न-कोई खिलौना पहुँच गया है, वापस उसके पलंग के पास आकर उसे तथा उसके पास जमा हो जानेवाले बच्चों को कहानी पढ़ कर सुनाया करती थी।

अधिकांश बच्चे सिर्फ हिन्दुस्तानी जानते थे। शुरू के कुछ हफ्तों में मैं उनसे ज्यादा नहीं बोल पाती थी; किन्तु मैं हिन्दी पढ़ लेती थी। मैंने देवनागरी वर्णमाला स्कूल में सीखी थी और यद्यपि जो कुछ मैं पढ़ती थी उसे हमेशा ही नहीं समझ पाती थी। लेकिन बच्चे तो उसे समझ ही लेते थे और मेरे पढ़ने में उन्हें आनन्द आता था। उनकी पसन्द की एक कहानी थी 'लाल मुर्गी' जिससे बहुत-से अमरीकी बच्चे भी परिचित हैं।

किन्तु, दिन-प्रति-दिन हिन्दुस्तानी का मेरा शब्द-ज्ञान बढ़ता गया। रोजाना बातचीत के दौरान में मैं दो या तीन शब्द ऐसे चुन लेती थी जो मुझे नहीं आते थे ताकि घर आकर मैं शकूर से उनका अर्थ पूछ सकूं। जब मैंने अस्पताल छोड़ा उस समय मेरी हिन्दुस्तानी बच्चों जैसी थी; क्रिया की गलतियों और गंवारू प्रयोगों से भरपूर, किन्तु वह मेरे और बच्चों के बीच पुल का काम देती थी और यही सब से महत्त्व की बात थी।

मुझे भाषा की गड़बड़ी की एक बात अच्छी तरह याद है। एक दस साल के बच्चे के पैर की हड्डी टूट गयी थी, इसलिए वह पलंग से हिलडुल भी नहीं सकता था। वह हमेशा चाहता था कि मैं उसके पास बैठूं, बातें करूं और कभी-कभी उसके साथ खेलूं। एक दिन बादल छाये हुए थे और मौसम बड़ा उदास था। मैंने उसे कुछ रंग और चित्रकारी की एक किताब लाकर दी।

"बरुश है ?" उसने मुझसे पूछा।

"नहीं", मैंने कहा—"बारिश नहीं हो रही है; लेकिन किसी भी क्षण हो सकती है।"

वह बोला—"नहीं बहन जी, बरुश, बरूश; आपके पास बरुश है ?" और

तब मेरी समझ में आया कि वह अंग्रेजी में मुझसे 'ब्रश' माँग रहा था, जो मैं अलमारी में छोड़ आयी थी और उसे देना भूल गयी थी !

वह बड़े दुःख का समय होता था, जब मैं वहाँ से रवाना होती थी और मुझे बच्चों से खिलौने ले लेने पड़ते थे। वह समय प्रायः मुलाक़ातियों के आने के ठीक पहले पड़ता था। बच्चे जानते थे कि उनके माता-पिता जल्दी ही आने-वाले होंगे; इसलिए इस बात से ही मैं उन्हें बहलाती थी। अधिकांश माता-पिता और मित्र, जो मुलाकात के समय आते थे, गरीब होते थे और अस्पताल के इलाज के पैसे देना उनके बूते के बाहर होता था। परन्तु वे बच्चों को प्यार करते थे और उनके लिए मिठाई, फल-फूल और तरह-तरह के छोटे-छोटे खिलौने लाया करते थे। बहुत-से माता-पिता अस्पताल से दूर रहते थे और निस्सन्देह उनके यहाँ और बच्चे भी होते ही होंगे। फिर भी हर रोज़ लगभग सभी बच्चो से कोई-न-कोई तो मिलने आता ही था।

अधिकांश बच्चे कम-से-कम एक सप्ताह अस्पताल में रहते थे। एक-दो दिन में मैं नये आये हुए बच्चे का नाम जान जाती थी और बच्चा यह जान जाता था कि मैं बहनजी हूँ, जो रोज़ाना बच्चों की मदद करने और उनके साथ खेलने आती हैं। फिर हम अच्छे-ख़ासे दोस्त बन जाते थे और यदि किसी बच्चे का आपरेशन होने को होता, तो उसे विश्वास होता था कि जब वह आपरेशन के बाद वार्ड में लौटेगा तो मैं, उसकी मित्र, उसे वही मौजूद मिलूँगी।

चलने-फिरने लायक बच्चे तो शरारत का घर ही होते थे। मुझे उन्हें शान्त और प्रसन्न रखने से ही फुर्सत नही मिलती थी। जो बच्चे एक हफ़्ते से ज्यादा अस्पताल में रहते थे, उनसे मुझे सचमुच ममता हो जाती थी और यद्यपि उनके स्थान पर हमेशा दूसरे बच्चे आते रहते थे; फिर भी जो कोई बच्चा घर चला जाता था, मुझे उसकी याद आया करती थी।

वार्ड में जो थोड़ी-सी नर्सें थी, वे प्राय. व्यस्त रहती थीं और हर पन्द्रहवें दिन बदल जाया करती थीं, इसलिए उनमें से किसी से भी मेरी अच्छी तरह जान-पहचान नहीं हो सकी। मुझे ऐसा लगा कि वे नर्सें तो हो गयी थीं, किन्तु समाज-सेवा की भावना से नहीं, बल्कि जबतक उनकी शादी नही हो जाती, तब तक के लिए भरण-पोषण करने के उद्देश्य से। उनमें से सभी बच्चों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं थीं। लगभग सभी नर्सों और बहुत-से डाक्टरों की शिक्षा

दिल्ली में ही हुई थी। कई डाक्टरों ने इंग्लैण्ड में और कुछ ने अमरीका में शिक्षा पायी थी।

मुझे कुछ बच्चों की अच्छी तरह याद है। एक थी कस्तूरी, जिसने खौलता हुआ पानी अपने ऊपर गिरा लिया था जिससे उसका कमर से नीचे का हिस्सा बुरी तरह जल गया था। वह अस्पताल के नजदीक ही छोटे-से कच्चे घर में रहती थी। यह घर उस सड़क पर था, जो उस स्थान तक जाती थी—जहां गांधीजी की अस्थियों का समाधि-स्थल है। इस स्थान को सारे भारत में बड़ी श्रद्धा से देखा जाता है। कस्तूरी ने बताया कि उसके पिता और चाचा पड़ोस में बननेवाली बहुत-सी इमारतों में से किसी एक में मजदूरी करते हैं। कस्तूरी से मिलने को मैं हमेशा उत्सुक रहती थी।

एक और छोटा लड़का था, जिसके पैर में रोग था। नर्सों ने उसका नाम 'चुप्पा' रख छोड़ा था। अधिकांश बच्चों की तरह उसमें और किसी भी अमरीकी बच्चे में कोई अन्तर नहीं था।

वह बच्चों में सब से ज्यादा मोहब्बती था और जब कभी मैं उसके बिस्तर के पास से गुजरती थी, वह अपनी दोनों बाहें फैलाकर मुझसे उठा लेने का आग्रह करता था। वह न मेरे साथ खेलता था, न दूसरे बच्चों के साथ। वह केवल यह चाहता था कि मैं जहां भी जाऊं, उसे उठाकर अपने साथ ले जाऊं। नर्सों का कहना था कि वह बोल नहीं सकता। वास्तव में मैंने भी उसे बोलते कभी नहीं सुना था; सिवाय उस एक दिन के, जिस दिन गर्मी बड़ी तेज़ थी और मैंने किसी बच्चे के लिए बर्फ का पानी ले जाते वक्त बर्फ का एक टुकड़ा उसके पैर पर मल दिया था। वह मुस्कराकर (वैसे वह कभी ही मुस्कराता था) बोल पड़ा—'ठंडा'। उसके बाद मैं समझ गयी कि वह बोलना जानता है और मैंने सोचा कि शायद अपरिचित स्थान और अपरिचित लोगों के बीच में होने के कारण ही वह बोलने से डरता है।

मुझे मोहन की याद है जिसकी हँसली टूट गयी थी। उसे पीठ के बल पड़ा रहना पड़ता था। उसकी गर्दन पर प्लास्टर किया गया था। मेरी गड़बड़ हिन्दुस्तानी को लेकर वह मुझे चिढ़ाया करता था और दूसरे पई बच्चों की तरह मेरे मुंह के धब्बों को लेकर मुझे छेड़ा करता था।

जो बच्चा मुझे सबसे ज्यादा याद है, वह है लँगड़े पैरवाला छोटा-सा

रामचन्द। यह मजेदार वारह साल का लड़का गर्मियो में कम-से-कम एक महीने अस्पताल में रहा था। तीन महीने वाद वह फिर अस्पताल आया था। सव वच्चों में सव से ज्यादा समय तक उसे जानने का मुझे मौका मिला। दूसरे वच्चे आते और चले जाते थे लेकिन वह वना ही रहता था। वह सभी अर्दलियो, डाक्टरों और नर्सों को पहचानता था और लँगड़ाते-लँगड़ाते वार्ड में घूमकर सभी वच्चों से परिचित हो गया था। वह शरारती था लेकिन दुष्ट नही।

मेरे अस्पताल छोड़ने से पहले के सप्ताह में उसका आपरेशन हुआ और जव मैं तीसरे पहर अस्पताल आयी, वह चुपचाप वीमारी की हालत में पलंग पर लेटा हुआ था। उसके पैर पर भारी प्लास्टर चढ़ा हुआ था। वह मुझे देखकर मुस्कराया और उसने मुझ से जरा देर अपने पास वैठने और वातें करने के लिए कहा। जव मैं हमेशा के लिए अस्पताल से विदा हुई उस समय भी वह शैयाग्रस्त था। गंभीर, वीर और एकाकी! उसके माता-पिता दिल्ली के वाहर एक छोटे-से गाँव में रहते थे और कभी-कभी ही उससे मिलने और उसे देखने आ पाते थे।

कालेज में दो महीने पढ़ने के वाद, मैं एक महीने के लिए अस्पताल वापस आयी। वच्चों का वार्ड नयी इमारत मे चला गया था। वह वार्ड ज्यादा हवादार और खुशनुमा था। दीवारो पर सुन्दर रग किये हुए थे, रोशनी सौम्य किन्तु चमकदार थी; और प्रत्येक वच्चे के लिए एक छोटी अलमारी थी, जिसमें वह अपनी चीजें रख सकता था।

वह वार्ड सडक के नजदीक था और खोन्चे वाले अक्सर वरामदे के नीचे तक आ जाते थे, जहाँ वच्चे उन्हे देख सकते थे। तव से मेरे लिए एक काम और वढ गया। वच्चे मुझे एक-दो आने देकर नीचे से अपने लिए चीजें खरीद लाने के लिए कहते। प्रायः वे खाने की ही चीजें होती थी—जैसे आलू या फल। कभी-कभी गुब्बारेवाला आ जाता था और तव हर छोटा वच्चा गुब्बारा मँगाता था।

मैंने तमाम वसन्त और गर्मी में जुलाई के अन्त तक यानी कालेज जाते समय तक तथा उसके वाद छुट्टियों के महीने अक्तूवर में अस्पताल में काम किया।

मैं हर रोज़ दोपहर में अस्पताल जाने का समय होने की प्रतीक्षा किया करती थी। वह समय मेरे लिए दिन का सबसे महत्वपूर्ण समय होता था; जब मैं अपने को भूल कर दूसरों के लिए चिन्ता और विचार कर सकती थी, अस्पताल के ऐसे साधारण लोगो के लिए—जिनकी समस्याएँ मेरी सभी समस्याओं ने कही ज्यादा बढ़-चढ़ कर थीं।

आठ

राह पर

मैं प्रतिदिन बाइसिकल पर अस्पताल आती-जाती थी। रास्ता चार मील से कुछ ज्यादा था। बरसात में या देर हो जाने पर मै यह रास्ता आध घंटे से भी कम वक़्त में तय कर लेती थी। किन्तु सामान्यतया इससे ज्यादा वक़्त लगता था—अक्सर पैंतालिस मिनट; क्योंकि लगभग और लोगो की तरह मुझे जल्दी नही होती थी।

वसन्त और गर्मी के महीनो में जब तापमान अक्सर ११५ डिग्री तक पहुँचता था, मैं दोपहर के भोजन के बाद ही अस्पताल के लिए रवाना हो जाती थी। दोपहर की धूप और गर्मी में मेरे बाहर जाने को मेरे कुछ मित्र मेरी मूर्खता समझते थे। इसके विपरीत मैं यह कभी नही समझ सकी कि कोई घर की चहार-दीवारी में क़ैद रह कर कैसे चैन पा सकता है ? यदि मैंने गर्मी के दिनो में अपना काम जारी न रखा होता तो, उनकी तरह मेरा दिमाग भी निरन्तर गर्मी और उसके कारण अपनी परेशानी में ही पड़ा रहता।

खुली हवा में मजे-मजे बाइसिकल चलाने में मुझे किसी कदर ताजगी मिलती थी और मै इसी निर्णय पर पहुँचती कि काम में लगे हुए व्यक्ति को अपनी असुविधा की ओर ध्यान देने का मौका मुश्किल ने ही मिलता है। जब तक मैं व्यस्त रहती थी तब तक दिल्ली की गर्मी मे मुझे कोई परेशानी नहीं होती थी।

घर से निकलकर मैं वृक्षो की कतारोवाली सँकड़ी रैटेन्डन रोड पकड़ती

थी। मेरे दायें ओर अनेक फ्लैटोंवाली नयी दुमंज़िली इमारतों की एक बस्ती पड़ती थी। मेरे बायें ओर सड़क पर उच्च श्रेणी के बड़े इक-मंज़िले घर थे।

रैटेन्डन रोड के आखिरी सिरे पर एक दयालु बूढ़ा व्यक्ति, जिसकी दाढ़ी बर्फ़ जैसी सफ़ेद थी, खुले में दुकान लगाकर फल बेचा करता था—खरबूज़े, तरबूज़, सेब, स्वादिष्ट लीचियाँ, आम, केले अथवा सीताफल; जैसा भी मौसम होता। नज़दीक ही दो छोटे लड़के बाइसिकल ठीक करने का सामान सड़क के एक ओर, पेड़ के नीचे फैला कर बैठते थे। जब मैं उधर से निकलती, वे हमेशा वहाँ मौजूद मिलते थे—कभी सोते हुए तो कभी खेलते हुए और कभी-कभी कोई बाइसिकल सुधारते हुए।

रैटेन्डन रोड के अन्त में मैं बायीं ओरवाली छोटी गली में मुड़ जाती थी, जो चौड़ी-सी सड़क—पृथ्वीराज रोड पर जाकर खत्म होती थी। पृथ्वीराज रोड के किनारे-किनारे सीमेण्ट के प्लास्टर की बनी नीची इमारतें थीं, जहाँ भारत सरकार के कार्यालय थे। दफ़्तर बन्द होने के समय उस पर बाइसिकलों की वैसी ही भरमार रहती थी जैसी कि कनेक्टीकट में गर्मियों में रविवार को तीसरे पहर रूट १ पर मोटरों की रहती है।

पृथ्वीराज रोड एडवर्ड अष्टम के पुतले को केन्द्र बनाकर गोलाकार घेरा बनाती है। मैं घेरे का चक्कर काटती हुई हार्डिंज रोड पर आ जाती थी, जो थोड़ी दूर जाकर मथुरा रोड से मिलती है। मथुरा रोड पुरानी और नयी दिल्ली के बीच की बड़ी सड़क है। वहाँ से अस्पताल लगभग दो मील रह जाता था। गर्मियों की ऐन दोपहर की तपन में ये सड़कें लगभग निर्जन होती थीं। किन्तु शाम को जब मैं घर लौटती तब वहाँ बड़ी चहल-पहल रहती थी। कुछ लोग पैदल होते थे, सैकड़ों साइकिलों पर चलते थे, दर्जनों घोड़ों के ताँगे होते थे, क़रीब के गाँव से आयी हुई बैलगाड़ियाँ होती थीं, कभी-कभी धीरे-धीरे चलनेवाले ऊँट की गाड़ी भी मिल जाती थी और इनके अलावा कुछ लारियाँ, बसें और मोटरें होती थीं। बाइसिकलों की संख्या इतनी अधिक रहती थी कि हमें मोटरों के ड्राइवरों की तरह हाथ से सिगनल देने पड़ते थे।

जब मैं अपनी बाइसिकल पर होती, तब मुझमें एक प्रकार की आज़ादी और उमंग की भावना आ जाती थी। घर आते वक़्त मथुरा रोड पर एक

ढाल पडता था और सभी बाइसिकलवाले इस पर पूरी रफ्तार से नीचे उतरते थे। बच्चो की तरह हम तेजी से एक दूसरे से और धीरे-धीरे चलनेवाली गाड़ियो से आगे निकल जाते थे। उस समय हमें उन कारो का जरा भी ध्यान नही रहता था जो हमसे भी आगे निकलती थीं।

जब मै १९५१ में शुरू-शुरू में मथुरा रोड की ओर गयी थी, तब उसके दोनो तरफ बहुत-सी खुली जगह पड़ी थी। १९५३ में जब मैं रवाना हुई तब सब जगह इमारतें बन रही थी। मथुरा रोड के पुरानी दिल्ली वाले सिरे पर दाहिनी तरफ एक बहुत बडा स्टेडियम है, जहाँ क्रिकेट और हाकी के मैच होते हैं; बायी ओर जेल की तरफ से जब मैं गुज़रती तो अक्सर मुझे कैदियो के झुण्ड सड़क पर जाते हुए मिलते थे, जिनके पैरो में बेड़ियाँ पड़ी होती थी और वे कुदाली और फावड़े लिए हुए होते थे। दो या तीन खाकी वर्दीधारी पुलिसमैन उनकी निगरानी के लिए साथ रहते थे।

जैन धर्मशाला और स्टेडियम से आगे चल कर एक बहुत बड़ा चौराहा पड़ता है, जहाँ मथुरा रोड दिल्लीगेट होकर पुरानी दिल्ली में चली जाती है। बायी ओर अस्पताल है, जो सर्क्यूलर रोड पर लगभग चौथाई मील तक फैला हुआ है।

मैं अस्पताल के अहाते में साइकिल रखने के स्थान पर अपनी बाइसिकल खडी कर देती थी। साइकिलो की निगरानी रखनेवाले दोनो व्यक्ति जल्दी ही मेरे अच्छे खासे दोस्त हो गये। उनमें से एक बहुत ही शर्मीला किन्तु देखने-सुनने में बड़ा अच्छा था। वह सिर्फ हिन्दुस्तानी बोल सकता था और मैं अस्पताल में जो काम करती थी उसमें उसकी बहुत दिलचस्पी थी। हम दोनो, अपने काम के बारे में और कभी-कभी अमरीका के बारे में, बातें किया करते थे।

दूसरे आदमी ने, जो बड़ी उम्र का था—मेरी हिन्दुस्तानी सुधारने का जिम्मा लिया। उसकी अपनी भाषा हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ी की अजीब खिचड़ी थी। बातचीत में जब वह किसी ऐसे शब्द पर अटक जाता जिसकी कि अंग्रेजी उसे नही आती थी, तब उस शब्द को वह हिन्दुस्तानी में ही बोल देता था। वह मुझे बेबी कहता था।

मैं इन लोगो को दो आने रोज़ दिया करती थी जैसा कि वहाँ साइकिल

रखनेवाला हर शख्स किया करता था। अक्सर मैं पैसे लाना भूल भी जाती थी। तब वह बड़ी उम्रवाला व्यक्ति मुस्करा कर कहता—"परेशान होने की कोई बात नहीं है, बेबी ! कल दे देना।" साइकिल के पंक्चर दुरुस्त करवाने के लिए मैंने कई बार उससे उधार पैसे लिये थे।

ट्यूब में पंक्चर होकर हवा निकल जाना मेरे लिए लगभग रोज़ की बात थी; खास तौर से गर्मियों में जब सड़क के गरम-गरम तारकोल और सीमेण्ट से रबड़ कमजोर पड़ जाता था। मैं मई के महीने तक किराये की साइकिल पर जाया करती थी और मुझे हमेशा यह दिक़्क़त उठानी पड़ती थी। पहिये की हवा निकलती रहती थी और ज़ंजीर अक्सर उतर जाती थी। दिन के समय तो साइकिल ठीक करनेवाला नजदीक ही मिल जाता था; क्योंकि पूरी सड़क पर आधे-आधे मील पर उनकी छोटी-छोटी दुकानें थीं, किन्तु रात को भाग्य कम ही साथ देता था।

जब किसी खास जगह पर धंधा मंद हो जाता तो ,बाइसिकल ठीक करने-वाला अपना सामान समेट कर दुकान वहाँ से बढ़ा देता था। जहाँ कहीं भी उसे अच्छी जगह मिल जाती, वहीं वह सड़क के किनारे किसी छायादार पेड़ के नीचे अपना सामान फैलाकर फिर बैठ जाता था। उस दिन के लिए वही उसकी दुकान बन जाती थी।

इन बाइसिकल मरम्मत करनेवालों में से अधिकांश मुझे साधारण साइकिल चलानेवालों की श्रेणी का ही मानते थे और ऐसी अमरीकी नहीं, जिससे कि ज्यादा पैसे वसूल किये जा सकते थे। प्रत्येक पंक्चर ठीक करने के दो आने लगते थे और हवा भरने का आधा आना या मुफ्त। हमारे घर के नजदीक का साइकिलवाला मेरे टायरों को ठीक कर दिया करता था; भले ही मेरे पास पैसे हों या न हों, क्योंकि वह जानता था कि एक-दो दिन बाद जब भी मैं उधर से गुजरूँगी, उसके पैसे चुका दूँगी।

एक दिन अस्पताल जाते समय रास्ते में एक मामूली टक्कर हो जाने से मेरी साइकिल का अगला पहिया बुरी तरह टेढ़ा हो गया। मैं उसे सबसे नज-दीक की साइकिल की दुकान पर ले गयी और साइकिलवाले से मैंने कहा कि मेरे पास देने को अभी पूरे पैसे नहीं हैं, किन्तु जो भी रकम होगी वह मैं दूसरे दिन आकर चुका दूँगी। यद्यपि ठीक करने में उसे कोई बीस मिनट मेहनत

करनी पड़ी, फिर भी उसने मुझसे कहा कि पैसों के लिए चिन्ता मत करो। अगले दिन जब मैं उसे पैसे देने पहुँची तो उसका कहीं पता न था।

मैंने पहियों की हवा निकल जाने की वास्तव में कभी पर्वाह नहीं की; सिवाय इसके कि उनपर खर्च होता था। किन्तु साइकिल चलाने के सम्बन्ध में एक बात ऐसी थी, जो मुझे बुरी तरह खलती थी और जिसके कारण कभी-कभी मुझे घर से निकलने में भय भी लगता था। २० जून को मैंने इस बात से उकता कर अपनी डायरी में लिखा, "मित्रतापूर्ण, मित्रतापूर्ण भारत! किन्तु मैं घूरनेवालों से तंग आ गयी हूँ।"

अपनी ओर घूरती हुई आँखों की मैं कभी अभ्यस्त नहीं हो सकी। ज्यों-ज्यों महीने गुज़रते गये, त्यों-त्यों लोगों का घूरना कम होता गया; क्योंकि लोग मुझे देखने के आदी हो गये थे और वह वक्त भी आ गया, जब वह बाइसिकल की मरम्मत करनेवाला, फल बेचनेवाला बूढ़ा, पुलिसवाले, रोज़मर्रा दिखनेवाले दूसरे लोग, मेरे गुज़रने पर शायद ही कभी निगाह उठाकर मुझे देखते थे। किन्तु सैकड़ों पैदल चलनेवालों तथा बाइसिकल पर चढ़नेवाले दूसरे लोगों के लिए एक लड़की का, खास तौर से एक ऐसी विदेशी लड़की का, जो भारतीय पोशाक में हो, दिखाई देना विचित्र बात थी और वे मुझे ऊपर से नीचे तक देखते थे।

आज तो दिल्ली की सड़कों पर दस साल पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा युवतियाँ नज़र आती हैं। किन्तु साइकिल चलानेवाली लड़कियाँ अब भी बहुत नहीं दीखतीं और अँधेरा पड़ने के बाद तो मुश्किल से ही दिखाई देती हैं। मुझे विश्वास है कि बहुत-से लोग मुझे दुश्चरित्र समझते होंगे। मुझे याद है कि एक घृणित-सी दीखनेवाली औरत ने, जब मैं उसके पास से निकली, तब मेरी साइकिल के आगे थूक दिया था।

शायद यह भी एक कारण है कि भारत में नर्स के धंधे को, पूरी तरह से, अब भी आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता। नर्सें, विशेषतया जन-स्वास्थ्य से सम्बन्धित नर्सें, अक्सर अकेली ही साइकिलों से लोगों के घर जाती हैं और रास्ते पर चलनेवालों की वे फ़ब्तियों का शिकार बनती हैं। यह देखकर बहुत-से पुराने विचार के लोगों की यह धारणा है कि आमतौर से नर्सें दुश्चरित्र होती हैं। इसलिए अगर नर्सिंग की

अपेक्षा ज्यादातर महिलाएँ डाक्टरी का पेशा अपनाती है; क्योंकि इस पेशे की इज्जत है, तो इसमें क्या ताज्जुब !

फिर भी साइकिल चलाने की अच्छाइयाँ, उस घूरनेवाली बुराई से— जिसे मै बेहद नापसन्द करती थी, कही बढ़कर थी। सबसे बढ़कर तो वह आजादी की भावना थी कि चाहे जहाँ जाना हो मुझे यह आसरा देखने की ज़रूरत नही थी कि कोई मुझे वहाँ ले जाये। बाइसिकल अपनी थी, दिन का वक़्त अपना था। मै अपनी मर्ज़ी के मुताबिक आ-जा सकती थी।

साथ ही, जब कभी में साइकिल पर सवार होकर जाती थी, मैं अपने को भारतीय सड़कों के मन्दगामी जीवन का एक अंग महसूस करती थी; न कि उससे पृथक्, जैसा कि मुझे कार में बैठकर लगता था। मैं सब प्रकार के लोगो, वस्तुओ और घटनाओं को देखती थी। उस गर्मी में जिस समय पहिला पानी पड़ा, मैं अस्पताल से घर लौट रही थी। जब तक घर पहुँचूँ-पहुँचूँ तब तक मैं बुरी तरह भीग गयी थी। वह भीगना कितना अच्छा लगा था। कई महीनों के बाद पहिली बार बरसात हुई थी। मै तथा हर चीज़ तपन से परेशान हो चुकी थी। यह बात अजीब चाहे लगती हो किन्तु उस दिन बरसात से बचने के लिए भाग-दौड़ बहुत ही कम साइकिल-वालो ने की।

एक दिन, जिस समय मैं मथुरा रोड होकर अस्पताल से घर लौट रही थी, मैंने पीछे से किसी के पुकारने की आवाज सुनी, “बहन जी !” मैं रुक गयी और एक सुन्दर-सी ग्रामीण युवती घेरदार लहँगा पहने मेरे पास आकर पूछने लगी कि मैं कहाँ जा रही हूँ। उसने बताया कि वह बहुत थक गयी है। फिर उसने मुझसे पूछा कि क्या मैं उसे कुछ दूर तक पहुँचा दूँगी ? मैंने मजूर कर लिया और जो सड़क बायीं तरफ मुड़कर उसके गाँव को जाती थी, वहाँ उसे छोड़ दिया। फिर भी उसे एक या दो मील रास्ता तय करना बाकी था।

अस्पताल में मेरे काम शुरू करने के कुछ दिनों बाद ही. अप्रैल के आरम्भ में दिल्ली में रामनवमी मनायी गयी। दिल्ली दरवाजे और स्टेडियम के निकट मथुरा रोड पर एक बहुत बड़ा मेला लगा। उस दिन अस्पताल जाते हुए मैंने देखा कि आसपास के गांवो से बैलगाड़ियों के पीछे बैलगाड़ियाँ चली आ

रही थी। हर गाड़ी हँसते और गाते हुए ग्रामीणजनों से भरी हुई थी। औरतें खूब चमकीले केसरिया, लाल और पीले रंग की साड़ियाँ पहने हुए थीं, जिन्हें खींच कर उन्होंने अपने सिर ढँक लिये थे। मर्द कुछ गम्भीर ढंग के सफ़ेद कपड़े पहने हुए थे।

सड़क के किनारे छोटी-छोटी, जल्दी में तैयार की गयी, किन्तु खूब सजी-धजी दुकानें लगी हुई थीं, जिनमें मिठाई, फल, आइस्क्रीम और चाट आने-जानेवालों का मन ललचाने के लिए खूब आकर्षक ढंग से रखी हुई थी। बहुत-सी दुकानों पर खिलौनों और देवी-देवताओं की मिट्टी की बनी रंगीन मूर्तियों के ढेर लगे हुए थे। खोन्चेवाले, मेले की भीड़ में आवाज़ें लगा-लगा कर अपना सामान बेच रहे थे।

एक लाउड स्पीकर पर नवीनतम लोकप्रिय गाने बज रहे थे, जिसके मुकाबिले में चक्करदार झूले का संगीत फीका पड़ रहा था। बच्चे नंगे पैर दुकानों के बीच इधर-उधर एक-दूसरे का पीछा कर रहे थे या चुपचाप खड़े भुट्टे चबा रहे थे या शान्ति से अपने बड़े भाई-बहनों के साथ हिंडोले में बैठे हुए थे।

आखिर में जब मैं अस्पताल पहुँची तब मैंने बच्चों से मेले का ज़िक्र किया। वे अपने वार्ड से लाउड स्पीकर की आवाज़ सुन रहे थे। अगर वे बीमार न होते तो जो आनन्द वे मेले में लेते, उसकी बातें उन्होंने बड़ी लालसा से कीं।

अक्सर अस्पताल आते-जाते में आँधी में फँस जाया करती थी। मई और जून के खुश्क और गर्म दिनों में ये आँधियाँ प्रायः आया करती थीं और जिस तेज़ी से आती थीं उसी तेज़ी से निकल जाती थीं। किन्तु जितनी देर आँधी चलती थी उतनी देर वह कोई मामूली चीज़ नहीं होती थी। साधारणतया आँधी के साथ इतनी तेज़ हवा चलती थी कि मेरे लिए साइकिल चलाना बहुत कठिन हो जाता था। ज्यादातर मैं हार मानकर उतर जाया करती थी; किन्तु कभी-कभी सिर्फ आनन्द लेने के लिए ज़िद पर चढ़ जाया करती थी और मुँह चुन्नी से ढँक कर साइकिल चलाये जाती थी।

एक-दो मामलों में मेरी चुन्नी मेरे लिए परेशानी का कारण भी बनी। प्रायः मैं उसे इस प्रकार ओढ़ती थी कि वह मेरी पीठ पर दोनों तरफ लटकती रहती थी। मुझे यह खयाल ही नहीं आया कि वह इतनी लम्बी भी होती है

कि कभी साइकिल के पहिये में फँस जाय। एक दिन यही हुआ। न जाने कैसे वह ज़ंजीर के पुर्ज़े में फँसती चली गयी। मुझे पता था कि किसी लड़की का आम रास्ते पर बगैर चुन्नी के निकलना बहुत ही अनुचित माना जाता है। इसलिए बड़ी घबड़ाहट से मैं साइकिल को उठाकर सड़क के एक किनारे ले गयी और अपनी चुन्नी को जो तेल से तर हो गयी थी और बुरी तरह फट गयी थी, ज़ंजीर से छुड़ाने की कोशिश करने लगी। मैं उस नौजवान की बहुत कृतज्ञ हूँ जिसने आकर चुन्नी को छुड़ाया।

इस बात से मुझे हमेशा विस्मय होता था कि एक बाइसिकल आखिर कितना ज्यादा बोझा ढो सकती थी। कई परिवारों में सवारी का एकमात्र साधन पिता की साइकिल होती थी। रविवार को या और किसी छुट्टी के दिन बीसियों साइकिलें ज्यादा-से-ज्यादा सवारियों से लदी हुई निकलती थीं। पिता सीट पर बैठता, हैण्डिल में टँगी हुई टोकरी में एक छोटा बच्चा होता, माँ पीछे कैरियर पर और एक बच्चा उसकी गोद में होता। एक बार मैंने एक ही साइकिल पर माता-पिता और तीन बच्चों को बैठे हुए देखा। तीसरा बच्चा सीट के आगेवाले डंडे पर बैठा था।

गाँवों से आनेवाले दूधवाले दूध के बड़े-बड़े दो हण्डे साइकिल पर लादकर लाते थे। फल और सब्ज़ी बेचनेवाले, साइकिल के दोनों ओर भारी-भारी टोकरियाँ लटकाकर लाते थे। मोढ़े बेचनेवालों के चेहरे मुश्किल से ही दिखाई देते थे। उनकी साइकिलों पर ये मोढ़े विचित्र ढंग से एक के ऊपर एक इस तरह रखे होते थे कि फेरीवाले उनके पीछे करीब-करीब छिप जाते थे। ज़रा सावधानी के साथ तो लोग अपनी चारपाई भी साइकिल के पीछे बाँध कर ले जाते थे।

यद्यपि मैं रोज़ाना अस्पताल आती और जाती थी फिर भी साइकिल की सवारी ने मेरा मन कभी नहीं ऊबा। हमेशा नयी-नयी चीज़ें देखने को मिलती थीं, नये-नये लोगों से मिलना होता था और नयी-नयी बातें सीखने को मिलती थीं। इस शौक की मुझे एक ही कीमत चुकानी पड़ती थी और वह थी लोगों का मुझे घूरना, जिससे मुझे बहुत परेशानी होती थी।

नौं

दिल्ली में सप्ताहान्त

जब मैं स्कूल में थी तब वहाँ दिल्ली के सप्ताहान्त के बारे में लगभग उसी प्रकार की भावना थी जैसी अमरीका में। सोम, मंगल, बुध, गुरुवार और शुक्रवार व्यस्तता के दिन होते थे। बच्चे स्कूल जाते, पुरुष अपने काम पर; दुकानें खुली रहतीं और उनपर खूब चहल-पहल रहती। बाज़ारों में भीड़-भाड़ और शोरगुल रहता और उद्यान शाम के समय को छोड़ कर निर्जन रहते।

शनिवार आता और चहल-पहल घट जाती। बच्चे घर पर रहते। अधिकांश लोग सिर्फ सवेरे काम पर जाते। बहुत-सी दुकानें तीसरे पहर बन्द हो जातीं और ठंडक होते ही उद्यान लोगों से भर जाते। रविवार के दिन सब काम-काज बन्द हो जाता। सारा परिवार मिल कर बैठता। पिकनिकें होतीं, लोग मिलने-जुलने जाते, पार्टियाँ करते या दोपहर को किसी उद्यान में नीम के बड़े-से वृक्ष के तले छाया में बैठ कर या चारपाई पर सो कर बिताते। बाज़ार में अक्सर चहल-पहल रहती। शुक्रवार मुसलमानों के लिए अवकाश और इबादत का दिन होता है, किन्तु अधिकांश नगर में उनके प्रति रविवार जैसी भावना रहती।

यद्यपि मैं अस्पताल में प्रतिदिन काम करती थी; शनिवार और रविवार को भी उसी तरह जिस तरह कि सप्ताह के और दिन। फिर भी सप्ताहान्त मेरे लिए भी कुछ और तरह का होता था। शनिवार को सुबह मैं अपने घर के निकट के एक दवाख़ाने में काम करती थी।

यह दवाख़ाना दिल्ली के अमरीकी महिला-क्लब की सहायता से भारतीय महिलाओं के एक दल द्वारा चलाया जाता था। नयी दिल्ली और पुरानी दिल्ली में ऐसे और भी दवाख़ाने थे। नगर के अन्य चिकित्सालयों को, जो अधिकतर प्रसूतिगृह और बाल-कल्याण-केन्द्र थे, सरकार चलाती थी। जिस दवाख़ाने में मैं काम करती थी, वहाँ आनेवालों में प्रमुख रूप से महिलाएँ

और बच्चे होते थे, जो अधिकांश पड़ोस में ही रहते थे।

वहाँ एक डाक्टर था, दो महिलाएँ थीं, जो नुस्खों के मुताबिक दवाइयाँ देती थीं और दो औरतें परिचर्या-कक्ष में काम करती थीं। ये सब स्वयंसेवक और स्वयंसेविकाएँ थीं। दवाइयाँ क्लब खरीद कर देता था और बच्चों के लिए दूध का चूर्ण यू. एन. आई. सी. ई. एफ़. से भेंट के रूप में मिलता था।

जब कोई रोगी पहली बार दवाखाने में आता तब उससे दो आने लिये जाते थे, बीमारी उसे चाहे कुछ भी हो। इससे दवाखाने के ख़र्च में कुछ मदद तो मिलती ही थी, लेकिन मेरे ख़याल से इसके अलावा दुअन्नी देने से रोगी के मन में यह भाव उत्पन्न नहीं होता था कि उसे दवा यूँही थमा दी गयी है। उल्टे इससे उसके मन में यह भाव जगता था कि उससे आशा की जाती थी कि वह अपनी तन्दुरुस्ती को अपनी खुद की जिम्मेवारी के रूप में स्वीकार करे।

डाक्टर उस छोटी-सी इमारत के बरामदे में मेज़ लगा कर बैठता था। रोगी पहले उसके पास आकर अपनी शिकायत बताता। डाक्टर निदान करके लिखता था कि रोगी को किस दवा या चिकित्सा की ज़रूरत है और उसे उस दिन फिर आने को कहता जिस दिन दवाख़ाना खुलता था; क्योंकि दवाखाना हफ़्ते में तीन दिन खुलता था।

यदि रोगी को दवा की ज़रूरत होती थी, तो वह डाक्टर के पास से, उस खिड़की पर जाता था, जहाँ दवा दी जाती थी। यहाँ वह स्वयंसेविका को अपना नुस्ख़ा और एक शीशी सौंप देता था। शीशी में उसे दवा मिल जाती थी और साथ ही दवा के उपयोग की विधि उसे अच्छी तरह समझा दी जाती थी। अगर उसे कोई घाव, फोड़ा, किसी प्रकार का पकाव या गले की सूजन, आंख की पीड़ा या जलने की शिकायत होती तो वह दवा की खिड़की से परिचर्या-कक्ष में जाता था, जहाँ उसकी चिकित्सा की जाती थी।

मुझे परिचर्या-कक्ष में काम करने में आनन्द आता था, जहाँ मैं रोगियों से जान-पहचान कर सकती थी, उनकी वास्तविक देखभाल कर सकती थी और रोग-निवारण मे उनकी सहायता कर सकती थी। कुछ ही समय में मैं आंखों में दवा डालने, गले में दवा लगाने और पट्टी बाँधने में कुशल हो गयी।

फिर भी गले में दवा लगाने का काम मुझे रुचिकर नहीं था। शुरू-शुरू में

एक बार मुझे जब यह काम करना पड़ा, तब मैंने फुरेरी पर रुई काफ़ी कस कर नहीं लपेटी थी। नतीजा यह हुआ कि रुई और दवा दोनो ही बेचारी बच्ची के पेट जा पहुँची। मै बुरी तरह घबड़ा गयी और मुझे उस नन्हीं लड़की के लिए अफसोस हुआ। उसका गला बन्द हो गया और उसने तुरन्त एक गिलास पानी पीना भी स्वीकार कर लिया। खुशी की बात थी कि वहाँ के लोग सहानुभूति-पूर्ण थे और वह लड़की जल्दी ही ठीक हो गयी। किन्तु मुझे विश्वास था कि पेट की किसी गम्भीर खराबी की शिकायत लेकर वह कुछ ही दिनों में फिर आयेगी। सौभाग्य से वह वापस आयी नहीं।

प्राय: मै औषध-विभाग में काम करती थी, जहाँ मै शीघ्र ही गोलियो के डिब्बों और शीशियो से—जो खानों में पंक्तिबद्ध रखी रहती थी तथा तरल दवा की उन बड़ी बोतलो से, जो हमारे काम करने की मेज़ के अधिकाश भाग को घेरे रहती थीं—परिचित हो गयी। एक दवा हम अक्सर दिया करते थे, वह लाल रंग की पिपरमिन्ट जैसी थी, जिसका नाम डाक्टर ने गुप्त रूप से 'मनोवैज्ञानिक' दवा रख छोड़ा था।

उस छोटे-से दवाखाने में हम साधारणतया एक वक़्त में कम-से-कम ५० रोगियों की परिचर्या करते थे। अक्सर यह संख्या अधिक रहती थी। यह दवाखाना अस्पताल से इस दृष्टि से भिन्न था कि मै चिकित्सा के मामले में रोगी की सीधी मदद कर सकती थी। मेरे ख़याल में शनिवार की सुबह बिताने का यह बहुत ही आनन्ददायक तरीक़ा था।

शनिवार को तीसरे पहर मैं सदा की भाँति अस्पताल में काम करती थी। परन्तु दवाख़ाने और अस्पताल जाने के बीच में इतना समय रहता था कि मै अपने मित्रो के साथ भोजन कर सकती थी या बाद में सैर-सपाटे, सिनेमा देखने या शाम को किसी मित्र के घर जा सकती थी। फिर भी अक्सर मै वह वक़्त घर पर ही; पढने-लिखने या घर के कामो में बिताती थी।

मेरा कमरा छोटा था और घर के उस भाग में था, जिधर सड़क थी। मै प्राय: मेज पर खुली खिड़की के सामने बैठती थी, जहाँ रैटेन्डन रोड तथा दूर-वर्ती सड़को की आवाजें सुनाई देती थी—जो मेरे काम के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती थीं। तांगे की घण्टियो की मधुर टन-टन, बैलगाड़ी की नियमित चरंमरं, उधर से गुज़रनेवाले धुनियो के कमान की टक्कर, छोटे बच्चों की चुहलभरी

बातें, एक आदमी का दूसरे आदमी को चीख कर पुकारना, गुज़रते हुए साइकिल-वालों के गीत या सीटी; सँपेरे की बीन का करुण-स्वर, हारमोनिका के आह्लाद-दायक स्वर, चिड़ियों की चहचहाहट, कुत्तों का भौंकना और रात के वक़्त हमारे घर के पीछे के उद्यान में गीदड़ों की डरावनी आवाज़ें तथा दूसरे प्रकार की बहुतेरी आवाज़ सुनाई देती थी, जिन्हें मैं पहचानती थी और जो मुझे बहुत प्रिय थी ।

रविवार का दिन बहुत व्यस्तता का होता था । सवेरे तड़के हम कभी-कभी पक्षियों के निरीक्षण को निकल जाते थे, तो दोपहर के या अपराह्न के भोजन के लिए हम पिकनिक पर जाते थे; और तीसरे पहर भी कुछ-न-कुछ होता ही था । एक बार खेलकूद हुए, कभी चुनाव की मीटिंग हुई, तो कभी सिनेमा देखा । दिल्ली-प्रवास के शुरू के महीने दर्शनीय स्थानों को देखने में बीते थे ।

चूंकि मुझे अपने देश में ही तरह-तरह की चिड़ियों को पहचानने का शौक था, इसलिए दिल्ली में पक्षियों के निरीक्षण के अभियानों में मुझे बड़ा मज़ा आता था । हम एक दल बनाकर जाया करते थे, जिसमें दिल्ली में रहनेवाले कई अंग्रेज, अमरीकी और भारतीय शामिल रहते थे । हम प्रायः नगर से बाहर तालाब या नदी के निकट किसी निर्जन स्थान पर जाते थे या फिर जंगल में ।

पहिले रविवार को हम जमुना नदी के किनारे एक सुरम्य स्थान पर गये, जो लम्बे-लम्बे गन्नों के खेत के समीप था । वक़्त तड़के का था । आसमान साफ था, हरियाली खूब थी । वहाँ अनेक पक्षी थे—जल और थल दोनों के । हमने वहाँ आमतौर से मिलनेवाले पक्षी देखे—जैसे मैना, बड़ा-सा काला बदशक्ल कौव्वा, ऊँची उड़नेवाली धूर्त और नीच मनोवृत्ति की चील । इनके अलावा लम्बी पूंछ का भूरे और सफ़ेद रंगवाला नीलकण्ठ, मटियाले रंग का घमण्डी तीतर, बुलबुल की जाति के अनेक पक्षी, श्याम श्वेत दहगल, अनेक रंगोंवाली चिड़िया, काले सिर और पीले रंग का सुन्दर हरदुआ, चटकीले नीले और नारंगी रंग की रामचिरैया, कलगीवाला हुदहुद और शोर करनेवाले सुग्गे ।

एक और दिन हम पुल से जमुना नदी पार करके उस स्थान पर गये, जो नगर की दूसरी दिशा में था । पुल पर यातायात ठप हो गया था । स्टेव और मुझे पुल पार करने की बारी आने की प्रतीक्षा में आधा घण्टा ठहरना पड़ा । इस दर्मियान हम यह देखते रहे कि भारतीय सड़कों पर चलनेवाली असंख्य

सवारियाँ इस अस्तव्यस्तता से कैसे वच कर निकलती हैं। वहाँ पैदल चलनेवाले लोग, सैंकडो साइकिलें, घोड़ो के तागे, वैलगाडियाँ, हाथ के ठेले—जिनमें अक्सर कोयला लदा होता था, मोटरें, लारियाँ जिनमें कुछ खाली थी, जो दिल्ली से पंजाव जा रही थी और कुछ माल से लदी हुई दिल्ली आ रही थी; वर्से, भेड़ों के रेवड़, भैंसे, वकरियाँ और मवेशी, यहाँ तक कि ऊँटो की कतार भी थी, जो देश के इस भाग में यदा-कदा ही दिखाई देती थी।

पुल के नीचे, नदी के तट पर, धोवी शहरवालो के कपडे धो रहे थे। नदी के किनारे की घास—तुरन्त के घोये हुए कपड़ो से जो धूप में सूख रहे थे, ढँकी हुई थी।

धोवी का काम मशक्कत का और थका देने वाला होता है। हर धोवी का एक-एक सँकरा पत्थर का पाट था जो आधा पानी मे डूवा हुआ था। उस पर वह कपड़े पछाड़ता था। धोने वाले वस्त्र को सिर से भी ऊँचा उठा कर वह वार-वार पत्थर पर पटकता था।

उस दिन पक्षियो का निरीक्षण मुझे उतना रोचक नही लगा, जितनी की जमुना पुलवाली धक्का-पेल; क्योकि चिड़ियो के वारे में मुझे उस दिन की एक भी चीज याद नही है।

अक्सर दोपहर या तीसरे पहर के भोजन के लिए मेरा परिवार या मेरे मित्र पिकनिक पर जाते थे। ठीक हमारे मकान के पीछे ही लोदी पार्क था, जो पिकनिक के लि सवसे नज़दीक जगह थी और हम अक्सर वहाँ जाया करते थे। मुझे वहाँ की ठंडक, छायादार हरियाली और शाति पसन्द थी। पार्क के दरवाज़े दिन और रात खुले रहते थे और लगभग हमेशा ही वहाँ लोग वने रहते थे। कही परिवार सैर करते होते, तो कही पिता अपने पुत्र-पुत्रियो के साथ खेलते दिखाई देते, औरतें घास पर वैठी वातें करती रहती तो विद्यार्थी पढते या विश्राम करते रहते। कोई श्रमिक मध्याह्न की निद्रा ले रहा होता, वच्चे खेलते होते।

मुझे एक रविवार की याद है जव हम साइकिल से हौज़ कोज़ गये थे, जो लोदी पार्क जैसा ही पिकनिक का एक और स्थान था और शहर से वाहर चार-पाँच मील दूर था। यह स्थान वड़ा रमणीक था—दूव और छाया मे भरपूर! रविवार के सैर-सपाटे के लिए आये हुए लोगो से भरा हुआ। वड़े परिवार—दादियाँ, दादा, माएँ, पिता, चाचियाँ, चाचा और अनेक वच्चे—पेडो की छाया

में बिछाये हुए कम्बलों पर बठे थे। बड़े लड़के वालीवाल खेल रहे थे। विद्यार्थियों के दल बैठ कर गपशप कर रहे थे या रेडियो बजा रहे थे। कोई अपना हारमोनियम लाया था और एक व्यक्ति अपना सितार। वहाँ का वातावरण प्रसन्नता और मस्ती का था।

रात के समय हौज़ कौज़ और भी ज्यादा खूबसूरत लगता था। कभी-कभी रविवार की रात को हम वहाँ पिकनिक करते थे। उस समय वह स्थान बिलकुल शान्त निर्जन होता था, जिसे श्वेत चाँदनी आलोकित करती थी।

लगभग हर रविवार की अपराह्न को ऐसी बात हो जाती थी जिससे मैं अस्पताल जाने के पहले या बाद में बहुत व्यस्त हो जाती थी। एक दिन हमने भारतीय टीम और जापान की टीम का हॉकी मैच देखा। भारतीय टीम बहुत अच्छी थी और बड़ी फुर्ती तथा कौशल से खेलती थी। हम चिल्ला-चिल्ला कर उसे बढावा देते रहे और वह जीती भी।

एक दिन मैं गर्ल गाइड के समारोह में सम्मिलित हुई, जो मिस क्रो के सम्मान में मनाया गया था। मिस क्रो अमरीका की थी और 'स्काउट वर्ल्ड फेलोशिप' की ओर से विश्व के कई भागों का दौरा कर रही थी। मैंने अपनी नीली 'मैरिनर' की वर्दी पहनी थी। भारतीय लड़कियाँ भारत के स्काउटों की वर्दी मे थी—सफेद सलवार, क़मीज़ और नीला दुपट्टा।

१९५२ की जनवरी में भारत में प्रथम राष्ट्रीय चुनाव हुए। दिल्ली में जुलूस और सार्वजनिक सभाएँ रोज़मर्रा की बातें हो गयी और इश्तिहार तथा पोस्टरो द्वारा विभिन्न दलो और उम्मीदवारो का प्रचार जोरो-शोरो से हुआ। महीने के मध्य में एक रविवार को स्टेब और मै पुरानी दिल्ली में कांग्रेस दल की ओर से आयोजित चुनाव-सभा में गये। जब हम वहाँ पहुँचे तब तक नेहरूजी, जो भाषण करनेवाले थे, आये नही थे। पार्क में हज़ारो लोगो की भीड़ जमा थी जिसमें स्त्री-पुरुष, बच्चे सभी थे। खोन्चेवाले खाने की बढिया-बढ़िया चीजे बेच रहे थे। हम भी भीड़ मे मिल कर मंच के जितना भी सम्भव हो सका उतना निकट पहुँच गये।

प्रत्याशित समय के लगभग ही नेहरूजी की मोटर आ पहुँची। भीड में एक लहर दौड़ गयी। परन्तु तालियो की गड़गड़ाहट या खुशी के ज़ोरदार नारे नही लगे। लोगों ने एक महान् व्यक्ति के आगमन का केवल मूकभाव से सम्मान

किया। नेहरूजी हिन्दुस्तानी में बोले; धीरे-धीरे और बिलकुल स्पष्ट। दुर्भाग्य से, उस समय तक हम उस भाषा को इतना नही सीख पाये थे कि जो उन्होने कहा, वह सब समझ लेते।

चूँकि मैं नेहरूजी के भाषण को समझ नही पा रही थी, इसलिए भीड़ के लोगों ने और भीड़ के व्यवहार ने मुझे ज्यादा आकर्षित किया। जो व्यक्ति जमा थे वे विभिन्न सामाजिक और आर्थिक वर्गों, विभिन्न धर्मो और सच पूछा जाय तो विभिन्न जातियो के थे।

नेहरूजी या पडितजी के प्रति जैसा कि आमतौर से लोग उन्हे पुकारते हैं, उन सबकी समान-भावना ने उन्हे एक कर दिया था। मैंने अनुभव किया कि नगर की जनता जाति-पाँति को अधिक महत्व नही देती।

दवाखाने और अस्पताल के काम, सैर-सपाटे, खेल-कूद के मैच, मित्रो से मिलना-जुलना—व्यस्तता के इतने सामान होते हुए भी दिल्ली में खाली बैठ कर सप्ताहान्त बिताना मेरे लिए बहुत मुश्किल था। स्कूल के दिनो में मैं ज़रूर इन दो दिनो की उसी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करती थी जैसी आज ओबर्लिन कालेज में करती हूँ।

दस

गाँव में एक सप्ताह

नर्सिंग के प्रति मेरी दिलचस्पी ने मुझमें यह जानने की उत्सुकता जाग्रत कर दी कि गाँवों में नर्सिंग और जन-स्वास्थ्य का कैसा कार्य होता है। इसी उत्सुकता के कारण मैंने नर्सिंग कालेज से दरियाफ़्त किया कि क्या मैं लगभग एक सप्ताह चावला गाँव में, जो दिल्ली से २० मील पश्चिम की ओर है, जाकर कार्य कर सकती हूँ? मैंने सुन रखा था कि कालेज की छात्राएँ इस गाँव में रहकर काम करती हैं। स्वीकृति मिल जाने पर मुझे बडी खुशी हुई।

जून की गर्मी में एक दिन मध्याह्न के भोजन के समय जब मैं चावला पहुँची, तब तक नर्सें गाँव के घरो का दैनिक निरीक्षण करके लौटी नही थीं।

कुमारी क्रेग ने, जो कालेज से मेरी सहेली थी, घूम-फिर कर मुझे नर्सों के रहने के अहाते को दिखाया। गाँव के सिरे पर एक या दो कमरेवाले छोटे-छोटे चार पूर्व-निर्मित मकान बने हुए थे—जिसमें से एक पकाने, खाने और मनोरंजन के लिए, एक कर्मचारियो के लिए और दो छात्राओं के लिए।

उस समय गाँव में आठ नर्सें थी—छः छात्राएँ, एक ग्रेजुएट जो गाँव के आहार-तत्व सम्बन्धी शोधकार्य कर रही थी; और एक युवती सुपरवाइजर। गाँव का स्वास्थ्य सम्बन्धी यह कार्य छात्राओ के नर्सिंग के प्रशिक्षण का ही एक भाग था।

उनमें से अधिकांश उत्तर भारत से आयी थीं—पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश या विहार से और दो बंगाल से और एक लंका से। इन लड़कियो के साथ, जो भारत के विभिन्न भागों की प्रतिनिधि थी, एक प्रकार का वैसा ही नया और उपयोगी अनुभव हुआ, जैसा कि गाँव में रहने और काम करने का हुआ था।

लड़कियो के गाँव से लौटने पर हमने दही की लस्सी पी। यह पेय बड़ा अच्छा, शीतल और सस्ता होता है। मुझे मालूम हुआ कि गाँववाले यह पेय वहुत पीते हैं। थोड़ी देर वाद हमने भारतीय ढंग से भोजन किया—चावल, चपाती और साग। लड़कियो ने अपनी उँगलियों से वड़ी होशियारी से उसी ढंग से भोजन किया, जो मैंने सुमन के यहाँ और सेवाग्राम में सीखा था।

भोजन के वाद चार वजे तक, यानी जव गर्मी ज्यादा-से-ज्यादा थी, लड़कियो ने आराम किया या वे सोयी जैसा कि भारत में गर्मी के दिनो में अधिकतर लोग करते हैं। तीसरे पहर के वाद हमने चाय और दूध लिया और तव से अँधेरा पड़ने तक लडकियो ने गाँव में काम किया या अहाते में ठहर कर स्वास्थ्य-सम्वन्धी पोस्टर तैयार किये अथवा रिपोर्ट लिखी।

चावला में अपने आवास के पहिले दिन में तीसरे पहर के वाद दो छात्राओ के साथ गाँव में गयी। गाँव के लोग नर्स को पहिचानते थे और जव हम लोग उधर से गुज़रे तव उन्होंने वड़े प्रेम से नमस्ते की और वहुतो ने हमें थोड़ी देर वैठने और वातचीत करने के लिए आमंत्रित किया।

सव से पहले हम जिस वच्चे को देखने गये उसे वुख़ार था और उसकी हालत अजीव थी। वह वच्ची सिर्फ चार दिन की थी और जैसा कि प्रायः

होता है कि लड़की होने के नाते अनचहेती भी थी। रिवाज के अनुसार उसकी शादी के समय उसके पिता को दहेज जुटाना पड़ता। वैसे ही पैसे की उसके पास कमी थी। बच्ची को न तो उचित खुराक मिल रही थी, न उसकी उचित देख-भाल हो रही थी। नर्सों ने उसे स्नान कराया और थोड़ा-सा पानी पिलाया; इससे ज्यादा वे कुछ कर नहीं सकती थीं। उन्होंने उसकी माँ से उसकी ठीक देख-रेख करने और उसे अधिक बार दूध पिलाने के लिए समझाया। बच्ची बीमार थी और कमज़ोर भी। सम्भावना यह थी कि अगर माँ ने नर्सों की सलाह के अनुसार आचरण न किया तो वह मर जायगी।

दूसरा मामला एक छोटे लड़के का था जिसे मोतीझरा हो गया था। भारत में यह बीमारी आम है, जो प्रायः भोजन, पानी और दूध के दूषित होने से होती है। गाँव में एक और व्यक्ति इस रोग से पीड़ित था।

वह लड़का एक छोटे-से घर की अन्धेरी कोठरी में एक चारपाई पर सो रहा था। उसकी छोटी बहन उसके पास बैठी पखा झल रही थी। नर्सों की देख-रेख में उसकी अच्छी देखभाल हो रही थी और उसे अच्छी दवाई व चिकित्सा मिल रही थी। अन्यथा नर्सों के आने से पहले गाँव में जैसे और कई लोग मर गये, वैसे ही वह भी शायद मर गया होता।

मैं सोचने लगी कि इस प्रकार की छुआछूत की बीमारीवाले रोगियो को सबसे अलग कैसे रखा जाता है? मुझे मालूम हुआ कि अनेक हिन्दुओ का आज भी ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार की खतरनाक बीमारियाँ—ख़ास तौर से चेचक, देवी के कोप के कारण होती है। बहुत-से मामले में यह ख़याल किया जाता है कि रोगी को भूत-पिशाच लगा हुआ है, और लोग प्राय. उसके नज़दीक आने से कतराते हैं।

इन रोगियो को देखने के बाद हम जहाँ-तहाँ कुछ औरतों से बातें करने को ठहरते हुए गाँव में घूमे। कई औरतें सूत कात रही थी, कुछ बच्चो की देख-रेख कर रही थीं। सबकी-सब थी बड़ी मिलनसार और जिस हद तक उन्होंने नर्सों को अपनाया था, वह भी एक आश्चर्य की बात थी।

नर्सें बाहर की था, गाँववालो के लिए अजनबी। गाँव की औरतो के आम घेरदार घाघरों के बदले वे सफेद-बुर्राक साड़ियाँ पहनती थीं। गाँव के मर्दों के सामने उनका आचरण "निर्लज्जता" का होता था; क्योंकि वे न तो

घूंघट निकालती थी, न सर ढँकती थी। और तो और उनमें से अधिकांश अविवाहित थी, फिर भी पुरुषों की नज़रों से बचकर रहने की कोशिश नहीं करती थी। उनमें से बहुतो को गाँव की बोली बहुत कम आती थी और आपस में वे जिस भाषा में बातें करती थी, वह गाँववालों की समझ में नहीं आती थी।

इसके अलावा ये नर्सें गाँव के लोगों को ऐसा काम करने की सलाह देती थी—जो गाँव के इतिहास में पहले कभी किये नहीं गये थे; और ऐसे-ऐसे काम करने से मना करती थी, जिन्हे वे और उनके पुरखे सदियो से करते चले आ रहे थे। उदाहरण के लिए; प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा से मालूम था कि बच्चे को एक महीने का होने से पहले पानी पिलाने से उसका पेट फूल जाता है और ज़रा सोचिये कि घाव पर ठंडी पट्टी के बजाय किसी बदबूदार पीले पदार्थ में भीगा हुआ सफेद कपड़ा रखा जावे! और भी देखिये; कुछ लोगों का कहना था कि यदि बच्चे को धातु की उस विचित्र वस्तु में, जिसे नर्सें तराज़ू कहती हैं, रखा गया तो उसके ऐंठन होने लगेगी और वह मर जायगा।

जब नर्सें पहले-पहल गाँव में आयी तो उन्हे ऐसी और इसी प्रकार की कई दूसरी धारणाओं का सामना करना पड़ा। ऐसे अन्धविश्वासो को अभी पूर्णतया समाप्त नही किया जा सका है; किन्तु उनका प्रभाव धीरे-धीरे घट रहा है।

गाँव की गलियों से गुजरती हुई नर्सें उन औरतो से, जो अपने घरों के दरवाज़े पर बैठी थी, हँसती-बोलती जाती थी। वे उनके पहनावे व बच्चों की बड़ाई करती जाती थी। यदि किसी औरत को कुछ तकलीफ़ होती और वह नर्सों से उसकी चर्चा करती तो वे धैर्यपूर्वक उसकी बात सुनती और सहानुभूति-पूर्वक उत्तर देती थीं।

इस तरीक़े से उन्होने पहले गाँववालों का विश्वास प्राप्त किया। तब किसी साहसी औरत ने अपने बच्चे को पानी पिलाया होगा और देखा होगा कि उसका पेट फूला अथवा नहीं, या उसने बड़ी सावधानी से अपने बच्चे को तराज़ू पर रखने दिया होगा कि उसे किसी प्रकार की ऐंठन नही हुई, और जब नर्सें उसे तोलने एक महीने बाद फिर आयी होंगी, तो उसकी माँ ने अपनी आँखो से देखा होगा कि उसके बच्चे का वज़न बढ गया था।

नर्सों का काम कठिन और प्रायः उत्साह-भंग करनेवाला था। परन्तु दैनिक सफलताओं ने—चाहे वे छोटी-मोटी ही थीं—उन्हें अपना काम करते जाने की हिम्मत दिलाई।

चावला करीब १५०० लोगो का गाँव है, जो एक छोटे-से क्षेत्र में बसा हुआ है। यह गाँव भारत के अधिकांश गाँवो से बड़ा है। औसत गाँव ७०० की आबादी का होता है। आमतौर से घर गारे में भूसा मिला कर बनाये जाते हैं और मिट्टी से लीपे जाते हैं। ये घर एक दूसरे से सटे हुए होते हैं। किन्ही-किन्ही अधिक सम्पन्न लोगो के मकान लकड़ी और ईंट के पक्के बने हुए होते हैं। औसत घर छोटा होता है जिसमें दो या तीन बचकानी अँधेरी कोठरियाँ और एक खुला सहन होता है। घर के सारे काम इस सहन में होते हैं। परिवार के अनेक सदस्य सहन में ही खाते, काम करते और सोते हैं; और कई बार गाय या भैंस भी वहीं बँधती है। एक कोने में चूल्हा रहता है। प्राय. एक या दो चारपाइयाँ पड़ी रहती है, जिन पर औरतें काम से निबट कर आराम कर सकती हैं, बैठ कर बातें कर सकती हैं। वहीं शाम को पुरुषो की बैठक जमती है और हुक्का पीते हुए, वे अपने गाँव, अपने देश और कभी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ पर चर्चा करते हैं।

सहन के पासवाली दो या तीन छोटी-छोटी कोठरियो में खेती-बाड़ी का सामान, पशुओ का चारा और परिवार की चीजें रखी जाती हैं। खिडकियाँ कहीं-कही ही होती हैं और कोठरियो में अँधेरा रहता है। घर आमतौर पर बहुत साफ रहते हैं। मिट्टी के कडे फर्श पर प्रतिदिन झाड़ू लगायी जाती है और पकाने-खाने के पीतल के बर्तन प्राय. खूब चमका कर रखे जाते हैं।

लेकिन गाँववालो की सफाई की भावना उनके घर के दरवाजे से आगे शायद ही कभी बढती है। वे अपने सहन के फर्श पर थूकना गवारा नही करते, किन्तु बडी सावधानी से दरवाजे तक जा कर गली में थूक आते हैं। इनका वे पूरा इन्तजाम करते हैं कि घर का गन्दा पानी बाहर निकल जाय—भले गली में बहता रहे। ऐसे ग्रामीणो में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना—सामाजिक चेतना—जाग्रत करना नर्सों के लिए एक बडी समस्या थी।

भारत के अधिकाश गाँवो की तरह चावला में भी विभिन्न जातियाँ रहती हैं और प्रत्येक का गाँव में अपना खण्ड है। विभिन्न जातियों के लोगो का आपस

में निस्संकोच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है, परन्तु एक साथ खाने-पीने और आपस में विवाह करने पर आज भी प्रतिबन्ध है।

चावला में पहिली सुबह को बैलो की घंटियो की आवाज़ ने मुझे जगाया। उस समय बैलो को खेतों पर काम करने के लिए ले जाया जा रहा था। अभी छः बजे थे और मुझे नीद आ रही थी। मुझे मालूम हुआ कि किसान सवेरा होते ही खेतो की जुताई में जुट जाते थे, गृहिणियाँ कुओ से पानी भरने और घर के अन्य कामो में लग गयी थी और उनके बच्चे खेलने में। गाँव के लोग सूर्योदय के साथ जाग जाते हैं और सवेरे की ठडक में काम करते है। वर्षा से पहले खेतो की जुताई करने का वक्त था इसलिए मर्दो तथा लडकों को फुर्सत जरा भी नही थी।

हम बाहर सोये थे, जहाँ ठडक थी। मेरी सहेलियाँ उठ चुकी थी और अपने बिस्तरे उठा रही थी या स्नान कर रही थी। गाँव में न तो बिजली थी, न पानी के नल। पानी डोलों और पीतल तथा मिट्टी के बड़े-बड़े घड़ो मे भर कर हमारे अहाते मे और गाँव के घरो मे गाँव के बाहर के कुओ से आता था, जो कभी-कभी तो आधे मील से भी ज्यादा दूर होते थे।

कुओ से पानी प्रायः औरतें लाती है। ढँके हुए सर पर पानी से लबालब भरा हुआ मिट्टी का घड़ा, उसका लहराता और सरसराता हुआ घेरदार घाघरा, खनकते हुए गहने और नाचती हुई कजरारी आँखें—भारतीय गाँव की यह नारी ऐसी लगती है जैसे किसी पुस्तक में से बाहर निकल कर आयी हो—हृष्ट-पुष्ट, प्रफुल्ल और सुन्दर! उसका टखनो के ठीक ऊपर तक पहुँचनेवाला घाघरा कमर पर खूब कसा हुआ, भरावदार और शानदार होता है जो चटकीले रंग की छींट का बनता है। घाघरे के अलावा वह ढीली, लम्बी क़मीज़ पहनती है और चटकीले रग की ओढनी ओढती है, जो उसके सर को और कभी-कभी उसके सारे चेहरे को ढँक लेती है।

लड़की को उसकी शादी के समय खूब सारे गहने दिये जाते हैं—चूड़ियाँ, बाजूबंद, पायजेब, नथ, बालियाँ, बालों के आभूषण और गले के हार—जिनमें से अधिकतर भारी, सुन्दर और चांदी के तथा नक़्काशी के काम के होते हैं। ये गहने उसके परिवारवाले काफ़ी खर्च करके खरीदते हैं। यही चीज़ ग्रामीण के उस कर्ज का मुख्य कारण है जिसका बोझ लादे हुए वह जीता और मरता है।

७ वजे तक हमने परोंठा, उवले हुए मसालेदार आलू और दूध या चाय का नाश्ता किया और लड़कियाँ अपने रोजमर्रा के काम के लिए तैयार हो गयीं। वे सहन की एक इमारत में ही एक महिला डाक्टर की मदद से दवाखाना भी चलाती थीं। यह डाक्टर नजदीक के कस्बे-नजफगढ़ से सप्ताह में एक वार आती थी। उस दिन सुवह मैं भी उनके दवाखाने गयी और चिकित्सा-विभाग के काम में मैंने उनका हाथ वँटाया।

नर्सिंग कालेज के धन से चलनेवाली यहाँ की स्वास्थ्य-सेवा चावला गाँव के प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध है। चावला के पाँच वर्ष की उम्र के अधिकांश वालकों का पूरा विवरण-पत्र मौजूद था। यह विवरण यथासम्भव वालक के जन्म से ही रखा जाता है, जिस पर उसके स्वास्थ्य का पूरा व्यौरा रहता है। घर में और दवाखाने में उसका जो भी इलाज हुआ हो, उसका और उसके माहवारी वजन की वृद्धि का भी विवरण अंकित रहता है।

जब कोई औरत गर्भवती होती है तो एक नया विवरण-पत्र शुरू किया जाता है, जिस पर मासिक परीक्षण के परिणाम लिखे जाते हैं। इन विवरण-पत्रों पर पहिले की सन्तानों के नाम और स्वास्थ्य की स्थिति या मृत्यु का कारण भी लिखा रहता है। उदाहरण के लिए.—

नाम : शान्तिदेवी

पहिले के वच्चे :

नाम	जाति	जन्मतिथि	स्वास्थ्य	मृत्यु का कारण	मृत्यु के समय आयु
उषा	स्त्री०	१९४४	अच्छा	—	—
रामलाल	पु०	१९४५	—	मोतीझरा	४ वर्ष
हरिराम	पु०	१९४७	—	न्यूमोनिया	६ मास
पुष्पा	स्त्री०	१९४९	ज्वर	—	—
मोहिन्दर	पु०	१९५१	अच्छा	—	—

जून ५, १९५२—२० सप्ताह की गर्भवती

निश्चय ही स्वास्थ्य-सेवा ने जन्मकाल की और वचपन की मृत्यु-संख्या को कम कर दिया है। फिर भी शिशुओं और वच्चों की मृत्यु होती है। सारे भारत में ५० प्रतिशत वच्चे १२ वर्ष के होने से पहिले और चौथाई अपने जीवन के

प्रथम वर्ष में मर जाते हैं। एक मुश्किल यह है कि गाँववालो को उचित प्रकार का पर्याप्त भोजन उपलब्ध नहीं होता। उनमें से कुछ अपने बच्चो के प्रति बड़ी लापरवाही बर्तते हैं और सफाई की महत्ता बहुत ही कम लोग समझते हैं।

मै नही समझती कि आमतौर से उन्हे भोजन की कमी है। विशेषतः अब, जब कि गत कुछ वर्षों में भारत के खाद्य-उत्पादन में वृद्धि हुई है; परन्तु उनके आहार मे बहुधा शाक, फल और ज़्यादा प्रोटीनवाले खाद्य-पदार्थों की कमी रहती है। उनके भोजन में धान और चर्बीले पदार्थो जैसे भारी खाद्यो की अधिकता रहती है। चावला के लोग हिन्दू हैं; और प्रायः सभी कट्टर शाकाहारी, जो न तो मांस खाते हैं, न अण्डे।

एक अनाज की दुकान के अतिरिक्त चावला में कोई ऐसी जगह नही है, जहाँ गाँववाले खाद्य-पदार्थ खरीद सके। साग-भाजी बेचनेवाला कभी-कभी गाँव से होकर गुज़रता है। परन्तु नियमित रूप से उसके आने का कोई भरोसा नही होता। नजफगढ का क़स्बा तीन मील दूर है और चावला तथा आस-पास के गाँवो के लोग प्रायः वहाँ के बाज़ार मे साग-भाजी और फल खरीदने के लिए पदल, साइकिल से या अपनी बैलगाडियो मे बैठ कर जाते हैं।

एक दिन मै तीन नर्सों के साथ गाँववालों की तरह बाजार में खरीदारी करने और एक अन्य दवाखाने की मदद करने के लिए साइकिलों पर बैठ कर नजफ़गढ गयी। नजफगढ में इस दवाखाने के अलावा एक नया अस्पताल है, जो आस पास के २८ गाँवो की सेवा कर रहा है और भविष्य में जिले भरकी सेवा करने के लिए उसका विस्तार कर दिया जायगा।

दवाखाने में कुछ घण्टे काम करने के बाद हम भीड़-भाड़ वाले बाज़ार से साग और फल खरीदकर लाये। अमरीका के स्तर की तुलना मे कीमतें आश्चर्यजनक रूप से कम थीं। उदाहरणार्थ—हम तीन खरबूज़े पाँच आने यानी छः सेंट में खरीदकर लाये। बाज़ार की दुकानो में अनेक प्रकार के साग थे—टमाटर, आलू, खीरा, लौकी, भिण्डी, फलियाँ और प्याज़ तथा फल भी—केले, नारियल, खरबूज़े, बेर, आम, आडू, लीची। खोन्चेवाले महीन की हुई बर्फ के गोले, शर्बत छिड़ककर बेच रहे थे। यह चीज़ बच्चों को खास तौर से पसन्द थी।

मैंने चावला में जितने दिन बिताये उनमें से अधिकांश दिन मै किसी नर्स

के साथ गाँव के घरो के नियमित दौरे पर निकलती थी। हम उस अनचहेती छोटी लड़की को लगभग रोज ही देखने जाते थे। एक सप्ताह में उसकी हालत कुछ सुधरी। नर्स हैकी बहुधा बच्ची को नहलाती-धुलाती और उसे कुछ पानी और दवाई पिलाती थी। हमें पता चला कि बच्ची की माँ का मुँह उसके पति ने डेढ महीने तक नही देखा; लड़की पैदा हुई यह दोष उसी का तो था!

एक दिन हम उस परिवार के घर पहुँचे, जिसने आहार-तत्त्व सम्बन्धी खोज करनेवाली छात्रा को, अपने छोटे बच्चे का जन्म से ही साप्ताहिक वजन लेने की अनुमति दे दी थी। यह परिवार समाज के अधिक प्रगतिशील परिवारों में से था। परिवार की औरते बहुत ही स्वस्थ और मिलनसार थी और बिना किसी हीले-हवाले के वे नर्सों की सलाह मानती थीं।

एक दिन सुबह ठंडक में जब मै गहरी नींद में सोयी हुई थी, किसी की आवाज़ सुन कर जाग पड़ी। उस वक्त करीब ४॥ बजे थे और प्रकाश फूट रहा था। आवाज़ थी "मिस साहिब", "मिस साहिबा जी!" (युवा औरतो के लिए आदरसूचक शब्द।) हम सब बाहर पास-पास सोयी हुई थीं, अतः इस आवाज़ को औरो ने भी सुना।

"क्या हो गया?" मैंने एक नर्स को कहते सुना। और फिर सुना—"हैकी जल्दी उठो! लक्ष्मी का मामला है।" लक्ष्मी गर्भवती थी। हैकी और मैं पिछले दिन ही उसे देख कर आयी थी। जून के प्रथम सप्ताह में उसके बच्चा होने वाला था। उसी का एक सम्बन्धी हमें बताने आया था कि लक्ष्मी के बच्चा हो रहा है। हैकी और सुपरवाइज़र नर्स तुरन्त ही चल पड़ी।

थोड़ी देर बाद वे लौटीं। लक्ष्मी के पौने दस बजे एक हृष्ट-पुष्ट लड़का हुआ था, जिसका वजन साढे सात पौंड था।

कुछ देर बाद हम उस नवजात बच्चे के घर गये। मुझे ताज्जुब हो रहा था कि लोगो से भरे हुए छोटे-से मकान में प्रसव एकान्त में किस प्रकार होता होगा। एक छोटी-सी कोठरी के एक कोने में, एक चारपाई डाल कर उसके आगे आड़ कर दी गयी थी। मेरी सहेली ने मुझे बताया कि इस पर भी एकान्त नाममात्र का होता है और गांव के बच्चे तक इन बातों के बारे में बहुत कुछ जानते हैं।

लक्ष्मी लेटी थी और उसकी बगल में उसका सात घंटे का पुत्र सो रहा था।

मैंने उसे उठाया और हैकी ने उसे थोड़ा पानी दिया। अगले दिन जब हम फिर उसे देखने गयी तो हैकी ने मुझे शिशुओं को स्नान कराना सिखाया और मैंने उस बालक को नहलाया। पड़ोस की औरतें और बच्चे दरवाज़े के बाहर खुशियाँ मना रहे थे। यदि लड़का न हो कर लड़की हुई होती तो शायद इस प्रकार की खुशियाँ न मनायी जाती।

एक रात भोजन करने के पश्चात्, एक नर्स और मैं गाँव की एक लड़की के घर जा पहुँची, जिसकी उसी समय शादी हुई थी। सुबह करीब ७ बजे उसका वर आया था। हमने उसे अपने अहाते के पास से गुज़रते देखा था। वह पास के गाँव का था। (अधिकांश शादियाँ पर-गाँव में ही होती हैं।) बैलगाड़ियों का, जिनमें उसके मित्र और सम्बन्धी बैठे थे, एक छोटा-सा जुलूस उसके साथ था।

जुलूस के आगे-आगे एक बैण्ड था, जो शायद रास्ते भर बजता रहा था। ऐसे जुलूस को, जिसके साथ वर वधू के घर आता है, बारात कहते हैं। मैं पहले भी दिल्ली में सुमन के साथ बारात देख चुकी थी, किन्तु इस गाँव के वर के पास पीली मोटर नही थी।

जुलूस गाँव की सीमा पर आकर रुक गया था। जब वधू के परिवार के एक व्यक्ति ने आकर वर का और उसके परिवारवालों का हाथ जोड़ कर और "जय राम" कह कर अभिवादन तथा स्वागत किया, तब बारात वधू के घर की ओर बढ़ी। वधू के यहाँ पहुँच कर सारे दिन धार्मिक-संस्कार और खान-पान होता रहा।

शाम को जब हम वधू से मिलने गयी, उस समय तक वर और वर पक्ष-वाले भोजन करके जा चुके थे। हमें घर के अन्दर बुला लिया गया और हमने देखा कि वधू अपनी माँ और अन्य दो औरतों के साथ आँगन के एक कोने में बैठी थी। उसके बालों की कई छोटी-छोटी चोटियाँ गूँथी जा रही थी। वह करीब सोलह साल की लगती थी और बहुत सुन्दर थी। चूँकि वह गाँव की बेटी थी और उसका पति और मेहमान जा चुके थे, इसलिए उसका मुंह खुला हुआ था। उसने यह सब बातें हमें यह कह कर बतायी कि जो लोग बाहर बैठे बातें कर रहे थे, वे सब तो उसके "भाई" हुए; इसलिए उसे मुंह ढंकने की जरूरत नहीं थी।

उसका पति अगले दिन आकर शाम को उसे अपने गाँव ले जानेवाला था। उसे तीन दिन ससुराल में रहना था। वहाँ भी वही खान-पान और पूजा-संस्कार होनेवाले थे। और तीन दिन के बाद ६ या ८ महीने के लिए उसे अकेले अपने गाँव लौट आना था। उसके बाद वह अपने पति के घर स्थायी रूप से रहने जायगी। वहाँ वह गाँव की बेटी नहीं होगी और पुरुषों के सामने उसका मुँह ढँका रहेगा।

शादी के बाद लड़की अपने घर कितने दिन रहे यह लड़की की आयु पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ—हम एक दूसरी लड़की से मिले, जिसकी शादी जब वह नौ साल की थी तभी हो गयी थी और अब वह अठारह साल की थी। अभी वह चावला में ही रहती थी—अपने पति से दूर। मेरा खयाल है कि वह अब जल्दी ही ससुराल चली जायगी।

अधिकांश लड़कियों की शादियाँ ८ से १५ साल की उम्र में हो जाती हैं। यही बात हम अमरीका में सुनते हैं और उसकी वजह से हम बाल-विवाह को ले कर भारतीयों की आलोचना करते हैं। परन्तु जन-स्वास्थ्य की सुपरवाइज़र ने जैसा हमें बताया—"अन्ततः बात वही है। इस इलाके में वधू प्रायः अपने पति के साथ उस समय तक नहीं रहती, जब तक कि वह सत्रह या अठारह साल की नहीं हो जाती, और सत्रह वर्ष की होने के पूर्व किसी-किसी लड़की के ही बच्चा होता है। आम तौर से वह इससे एक या दो साल बड़ी ही होती है।"

हाल ही में एक कानून पास हुआ है जिसके अनुसार पन्द्रह वर्ष की होने के पूर्व लड़की का विवाह नहीं किया जा सकता। लड़के की उम्र कम-से-कम १८ वर्ष की होनी चाहिये।

मुझे चावला सुन्दर लगा। वहाँ का जीवन अनिवार्यतः सादगीपूर्ण था। वर्तमान समाज के जटिल और बहुधा अनावश्यक प्रभाव वहाँ अभी तक नहीं आये थे। मैंने किसी तरह अनुभव किया कि उसके फलस्वरूप वहाँ के लोग अपने प्रियजनों और प्रकृति के अधिक निकट थे। वे लोग अन्य लोगों की अपेक्षा पृथ्वी, वर्षा और पशुओं पर अधिक निर्भर रहते थे। मुझे यह वातावरण सुखी लगा।

गाँव की ऊबड़-खाबड़ धरती के रंग से मिलते-जुलते घर, पकी हुई मिट्टी

के मटके, लकड़ी का हल, घर के कते सूत के कपड़े, सब बिलकुल सादे थे और उस प्रकृति के ही अंग थे, जिनसे उनका निर्माण हुआ था। इसी कारण वे मुझे सुन्दर लगे।

वहाँ की शान्ति विस्मयजनक थी। उसे पूर्ण नीरवता नहीं कह सकते। पशुओं की घण्टियो की टनटनाहट, कुत्तो का भौंकना, चिड़ियो के गीत, बाँसुरी की स्वर-लहरी जैसी अनेक मधुर आवाजें उस शान्ति में रह-रह कर गूंज उठती थी। नजफगढ जानेवाली कोई ट्रक कभी-कभी गाँव के पास की बहुधा शान्त रहनेवाली सड़क से गुजर जाती थी। मशीनों की आवाज़ कभी-कभी सुनायी दे जाती थी।

परदेशी होने के नाते मुझे चावला में सुन्दरता, मिलनसारी और शान्ति के दर्शन हुए। परन्तु यदि मेरा जन्म उस गाँव में हुआ होता, यदि मैं निरक्षर रहती और जब कभी आशा के विपरीत पैदावार काफी न होने से मुझे भूखा रहना पड़ता तथा युवा होने पर मैं गाँव से बाहर निकलती और दूसरो के ऐश-आराम देखती, तब सम्भवत. गाँव की ज़िन्दगी के प्रति मुझ में घृणा का भाव ही उत्पन्न होता।

उस समय मुझे यहाँ—जहाँ लोग, अभावग्रस्त और अनावश्यक रूप से दु:खी रहते हैं, यही सुन्दरता देखने को नही मिलती। और तब या तो मैं गाँव से चली जाती और शहर में बस जाती, जो मुझे अधिक आकर्षक लगता; क्योकि वहाँ मुझे वे सब सुख-सुविधाएँ मिलती, जिनकी मैंने गाँव में कभी कल्पना भी न की होती। या फिर मैं अपने लोगों की सहायता करने के लिए वापस आ जाती।

अनावश्यक रोग और खराब स्वास्थ्य कुरूपता है; भूख कुरूपता है। अशिक्षा और अज्ञान कुरूपता है। सम्भवत: मुझ परदेसिन को इन कुरूपताओ का कभी अनुभव नही हुआ था और मैं यह भी जानती हूँ कि लोग इन कुरूपताओ को दूर करने के लिए अथक प्रयत्न कर रहे थे, इसीलिए शायद मैं गाँव में सुन्दरता के दर्शन कर सकी।

ग्यारह

कालेज का जीवन

दिल्ली पब्लिक स्कूल मई में गर्मियो की छुट्टियों के लिए बन्द हो गया। मैंने बड़ी प्रसन्नता से उससे विदा ली और इस निश्चय के साथ कि अगस्त में जब वह फिर खुलेगा, मैं लौट कर उसमें नही आऊँगी। उस वर्ष मैं क्या करूँगी, इसका मैंने निश्चय नही किया था। कभी भी कुछ समय तक लगातार मैं दिल्ली से, जिसे मैं अपना घर मानने लगी थी, बाहर कहीं नही रही थी—इसलिए बाकी देश से मैं अपरिचित थी। प्रश्न यह भी था कि मैं अपनी स्कूली पढ़ाई को यों कब तक रोके रहूँ।

मैंने पश्चिम बंगाल के एक विश्वविद्यालय के बारे में सुन रखा था, जहाँ भारतीय सस्कृति के अध्ययन पर ज़ोर दिया जाता है। यह विश्वविद्यालय कलकत्ते से सौ मील उत्तर में स्थित है। जब वहाँ मुझे एक विशेष छात्रा के रूप में प्रवेश मिल गया, तब मुझे बड़ी खुशी हुई।

इस विश्वविद्यालय की, जिसका नाम है शान्तिनिकेतन, स्थापना महान कवि, लेखक, कलाकार और संगीतज्ञ रवीन्द्रनाथ टैगोर ने की थी। १९४१ में अपनी मृत्यु होने तक टैगोर स्वय इसका संचालन करते रहे। अपनी आत्मकथा के "मेरी पाठशाला" शीर्षक अश में टैगोर ने लिखा है:—

विकासशील मस्तिष्क में यह विचार बोया जाना चाहिए कि वह एक मानवीय संसार में उत्पन्न हुआ है, जिसका उसके चारों ओर के संसार से समन्वय है। हमारे नियमित ढंग के स्कूल श्रेष्ठ ज्ञान का कठोर और अवहेलनापूर्ण रुख अपनाकर इसी सत्य की उपेक्षा करते हैं '......

हम इस संसार में आये हैं इसे अपनाने के लिए, इसे जानने मात्र के लिए नहीं। हम ज्ञान से शक्ति चाहे प्राप्त कर लें, परन्तु परिपूर्णता सहानुभूति से ही प्राप्त कर सकते हैं। महत्तम शिक्षा वह है, जो हमें सूचना का भण्डार ही नहीं बनाती, वरन् हमारे जीवन और स्थिति को एकलयता प्रदान करती है। परन्तु हम देखते हैं कि स्कूलों में सहानुभूति की शिक्षा की व्यवस्थित रूप से उपेक्षा ही नहीं की जाती, अपितु उसका कठोरता के साथ दमन किया जाता है।

......हम भूगोल की शिक्षा देने के लिए बालक को मिट्टी से दूर हटाते हैं; व्याकरण सिखाने के लिए उसकी भाषा उससे छीनते हैं......

......बालक का स्वभाव अपनी पीडा की समस्त शक्ति से इस अत्याचार का विरोध करता है और अन्त में दण्ड के भय से चुप हो जाता है।

तथापि १९४१ मे टैगोर की मृत्यु होने के बाद और शान्तिनिकेतन के सरकार द्वारा समर्थित विश्वविद्यालय बन जाने के बाद उसका कालेज बहुत-कुछ भारत के अंग्रेजी ढंग के कालेजों के समान कर दिया गया है। मेरा विचार है कि यह बात दुर्भाग्य की हुई। फिर भी टैगोर की भावना अब भी वहाँ व्याप्त है और इसी कारण तथा वहाँ के कला और संगीत-स्कूलो का लाभ पाने की इच्छा से मैंने शान्तिनिकेतन जाने का निश्चय कर लिया।

शान्तिनिकेतन मे स्कूल का साल जुलाई के मध्य में शुरू होता था। परन्तु चूँकि कोई भी समय की पाबन्दी की परवाह नही करता था और न उस पर जोर देता था, और चूँकि मुझे दिल्ली छोड़ने की जल्दी न थी इसलिए मैं कुछ दिन देर करके पहुँची।

दिल्ली छोडना कुछ अजीब लगा। शहर की बहुत-सी चीज़ें मुझे नापसन्द थी, जैसे उसका पाश्चात्य शैली का तथा कृत्रिम वातावरण। जब मैं अपरिचित लोगों के बीच से गुज़रती तो लोग मुझे घूरा करते और मैं सबसे अलग दिखाई देती थी। ये बातें भी मुझे पसन्द नही थी।

परन्तु दिल्ली मेरा घर बन चुकी थी और उसकी कुछ बातों को मैं प्यार करने लगी थी—जैसे उसके भीड-भरे बाज़ार, मेरे अस्पताल के बच्चे, सुमन, शकर और दूसरे नौकर, जो मेरे अच्छे मित्र बन गये थे। उनसे और अपने परिवार से भी विदा होने में मुझे बड़ा दु:ख हुआ। इन सबको छोड कर बोलपुर की, जो शान्तिनिकेतन का सबसे नज़दीक का स्टेशन है, छब्बीस घंटे की रेल-यात्रा करना आसान न था।

स्टेब गाडी में मेरे साथ थीं। हमने छ: सीट के दूसरे दर्जे के डिब्बे में दो सीटें रिज़र्व करा ली थीं। कलकत्ते की ओर आगे बढते हुए मैंने अपने साथ सफ़र करनेवाले लोगों पर गौर करना शुरू किया। (मेरा ख़याल है कि रेल के डिब्बे में सभी एक दूसरे पर गौर करते हैं।) डिब्बे में दो भारतीय किशोरियां थीं—बड़ी हँसमुख और मैत्रीपूर्ण, जो लखनऊ के एक लड़कियों के

कालेज में पढने जा रही थी। उन्होने सादी सफेद सूती साड़ियाँ पहन रखी थीं। दोनों ने अपने काले, सुन्दर वालो की दो-दो चोटियाँ वना रखी थी।

तीसरी सीट शुष्क, उग्र स्वभाववाली अधेड़ आयु की एक अँग्रेज़ महिला की थी। वह कानपुर जा रही थी। उसने हमें वताया—"मैं लगभग चाय के वक्त उतर जाऊँगी।"

दो यात्री और थे। एक मोटी, अधपके वालोवाली पजावी महिला और उसकी दुवली-पतली सुन्दर पोती। वे शायद पजाव की विस्थापित थी, जो दिल्ली में आ कर वसी थी। वे वहुत कम वोलीं और वाकी मुसाफ़िरों की तरह अधिक समय सोती रही।

अँग्रेज़ महिला के कहने के अनुसार ही गाड़ी चाय के समय कानपुर पहुँची। वह महिला और दोनों छात्राएं वहाँ उतर गयी। अँधेरा पड़ने के वाद हम इलाहावाद पहुँचे जो वनारस के पास है। दोनो पंजावी महिलाएँ वहाँ उतर गयी। अव रात भर के लिए डिव्वे में मैं और स्टेव ही रह गयी।

सवेरे हम एक नयी भूमि में पहुँच गये—वंगाल की चावल उपजानेवाली हरी और तर भूमि में। कही खेतो में लोग एड़ी-एड़ी भर पानी में हल चला रहे थे और कही लोग हरे-हरे पौधों को एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान पर लगा रहे थे। जिस भूमि को हम छोड़ कर आये थे, वह इसकी तुलना में भूरी और सूखी थी।

स्टेशनो पर हमने देखा कि भाषा और लिपि दिल्ली से भिन्न थी। जगह-जगह कोलगेट टूथपेस्ट, अंग्रेज़ी विस्किटों, भारतीय सीमेंट तथा दूसरी वस्तुओं के वंगला भाषा के विज्ञापन लगे हुए थे। यह भाषा हिन्दी की एक वहन हैं। लोगो की वाणी धीमी और संगीतमय थी।

पहनावा भी उससे भिन्न था, जिसको देखने के हम दिल्ली में आदी हो गये थे। पुरुष अपने शरीर के चारो ओर लपेट कर धोती वाँधते थे। स्त्रियाँ मेरी तरह सलवार-कमीज़ के वजाय साड़ियाँ पहनती थी।

वंगाल में वर्दवान स्टेशन पर दोपहर होने से पहले, हमने गाडी वदली। डिव्वा फिर भर गया। परन्तु मुझे नींद आ रही थी, इसलिए मैंने साथ के मुसाफिरों पर गौर नही किया। दो तो मुझे भारतीय व्यापारी मालूम हुए। एक नवविवाहित दम्पति भी थे। वधू आभूषणो से लदी थी और चटकीली लाल रग की साडी में शर्माई जा रही थी।

दोपहर के भोजन से पहले ही हम बोलपुर और शान्तिनिकेतन पहुँच गये। स्टेव कुछ देर बाद लौट गयीं और मुझे अपने कमरे में पहुँचा दिया गया। मेरा कमरा लड़कियों के निवास के उस हिस्से में था, जिसमें कला की छात्राएँ रहती थीं। लगभग तीस छात्राएँ उसमें थीं। अधिकांश कमरों में दो-दो लड़कियाँ साथ रहती थीं और कुछ में अकेली। मेरा कमरा दो लड़कियों के रहने के लिए था, परन्तु मेरे साथ दूसरी लड़की अगस्त में आयी। दूसरी मंज़िल का यह कमरा छोटा था। दीवारें सादी और सफेद पुती हुई थीं; पत्थर का फर्श नंगा था। उसमें दो तख्त जैसी नीची चारपाइयाँ पड़ी थीं जिन पर पतले गद्दे बिछाये जाते थे। दो मेज़ें और एक स्टूल भी था। कमरे में चार खिड़कियाँ थीं—दो बाहर खुलती थीं और दो अन्दर हाल में। इनसे कमरे में काफी रोशनी और हवा आती थी। बिजली की एक मद्धम बत्ती भी थी जिसके प्रकाश में रात को पढ़ा नहीं जा सकता था। कमरा सादा और सुख-मय था।

मैंने अपना सामान खोला; तस्वीरें, किताबें और दूसरी छोटी-मोटी चीज़ें अलमारियों में जमायीं। बिस्तर एक चारपाई पर बिछाया और उस पर एक रंगीन चादर बिछाई; अपने कपड़े एक छोटे-से बक्स में जमाये। अब कमरा मुझे अपना ही लगने लगा। मुझे विश्वास हो गया कि इस कमरे में मैं खुश रहूँगी।

अपने आगमन के दो दिन बाद मैं अपने कमरे में बैठी पढ़ रही थी कि मुझे छत पर किसी के भागने की धप-धप की आवाज़ सुनायी दी। मेरी खिड़की के ऊपर वह आवाज़ रुक गयी और मैंने देखा कि एक काला हाथ नीचे उतरा और उसके पीछे-पीछे एक बन्दर का बड़ा-सा, बालदार भूरा शरीर। वह मेरी खिड़की में आकर बैठ गया और कुछ देर मुझे तथा मेरे कमरे को देखता रहा। फिर, जिस फुर्ती से वह आया था उसी फुर्ती से चला गया। मैं समझ गयी कि वह "कमरा निरीक्षक" था; क्योंकि मुझे मालूम था कि वह इसी तरह और लड़कियों का भी निरीक्षण कर आया था। मैंने महसूस किया कि मैं उसकी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गयी हूँ और वह मुझे अपनी चर्चाओं का विषय न बनायेगा।

और भी जीव-जन्तु मेरे कमरे के चक्कर लगाया करते थे; जैसे चिड़ियाँ, छिपकलियाँ, कुत्ते और हर तरह के कीड़े-मकौड़े। एक चिड़िया ने दीवार के

एक कोने में घोसला बना लिया था और वह अक्सर आकर उसमें बैठा करती थी। मुझे मालूम है कि मेरी गैरहाजिरी में कौए खाने की तलाश में आया करते थे। छोटी और बड़ी सभी तरह की छिपकलियाँ रात को निकलती और दीवारो पर दौड़-दौड़ कर कीड़े-मकोड़े पकड़ती थी। मै इनसे और वे मुझसे दूर ही रहती थी।

आवारा कुत्ते, जो रसोई से भोजन चुरा-चुरा करके अपना पेट ठूँस लिया करते थे, इच्छानुसार छात्रावास में घूमते थे। बाहर मेरी खिडकी के नीचे, घास में दो गायें बँधी रहती थी और मुर्गियो के बच्चे आजादी से इधर-उधर घूमा करते थे।

मैने जल्दी ही अपने को शान्तिनिकेतन के जीवन में ढाल लिया। रोज सवेरे पाँच बजे से कुछ पहले ही मै अपनी होस्टल की साथिनो की बोल-चाल और गाने से जाग जाती थी। उस समय सूर्य की किरणे फूट ही रही होती थीं और काफी ठंडक होती थी।

लगभग छ बजे हम बड़े-से भोजन-कक्ष में नाश्ता करते थे। नीची-नीची लकड़ी की मेजो के सामने हम सँकरी बेंचो पर बैठते थे। नाश्ते में कोको के साथ ताज़ा मक्खन लगी हुई रोटियाँ, जिन पर शक्कर बुरकी होती थी या पूरियाँ और एक हरी सब्जी मिलती थी।

रोज नाश्ते के बाद एक छोटी-सी गायन-प्रार्थना-सभा होती थी। विद्यार्थियो के अलग-अलग दल एक-एक हफ्ते उसका नेतृत्व किया करते थे। प्रार्थना चुपचाप होती थी और टैगोर के लिखे गीत हमारे अमरीकी लोकगीतो से काफी मिलते-जुलते थे।

सुबह प्रायः मेरी दो-तीन क्लासें लगती थी। लगभग साढे ग्यारह बजे हम भोजन करते थे। भोजन के समय भोजन-कक्ष के चार विभाग हो जाते थे। लडके और लड़कियाँ अलग-अलग बैठते थे तथा निरामिष भोजी और आमिष भोजी भी अलग-अलग। अधिकाश तो आमिष भोजी ही थे, इनमें भी ज्यादा बगाली थे। बगाली निरामिष भोजी बहुत कम होते हैं और मछली खूब खाते हैं।

मैं हमेशा निरामिष भोजन करती थी। एनेक्स में हमारा छोटा-सा फार्म था। एक गाय थी, कुछ सुअर थे और मुर्गियाँ थी। मै उन जानवरो की

देखभाल में हिस्सा लिया करती थी, इसलिए स्वाभाविकतया उनमे मुझे ममत्व हो गया था। मुझे इस बात का बड़ा दुःख था कि हमारे भोजन में माँस बहुत जरूरी था। मेरा खयाल है कि ऐसी जगह में, जहाँ मेरे चारों ओर सब लोग आमिष भोजी ही थे मैं माँस खाना बन्द नही कर सकती थी, परन्तु भारत में जहाँ निरामिष भोजन इतना प्रचलित है, मुझे अपनी आदत बदलने में बहुत आसानी हुई।

यह हमारी इच्छा पर था कि हम चपातियाँ लें या चावल। पंजाबी दूसरे उत्तर भारतीय और मैं चपातियाँ लेते थे। चावल बंगालियो और दक्षिण भारतीयों का मुख्य भोजन है। इनके साथ आलू का एक शाक, साधारणतया एक हरी सब्जी, दाल और दही का शक्कर मिली चीजें मिलती थीं। दही की इन मीठी चीज़ों को खाते तो मै अघाती नही थी। साल के कुछ मौसमों में जब कि बाजार में कोई एक शाक बहुत और सस्ता मिलता था, तब रोज-रोज वही शाक बनता था, और कुछ हफ्तो बाद वह लगभग गायब हो जाता था। गोभी, पालक, बैंगन, भिंडी, टमाटर, प्याज, लौकी और सदासुहागन आलू हमें खाने को मिलते। यद्यपि बहुत-सी लड़कियाँ कहती थी कि उनके घर के खाने की तुलना में यहाँ का खाना बहुत खराब होता था, तथापि मुझे यह बहुत अच्छा लगता था।

भोजन के बाद दो-तीन घण्टे आराम और पढ़ने का समय होता था और बहुत-सी लड़कियो की तरह मै इस समय सोती थी और किसी-न-किसी तरह तीसरे पहर की अपनी क्लास के लिए उठ जाती थी। मेरी क्लासें काफ़ी देर तक चला करती थीं।

क्लासों के बाद दो घण्टे खेल होते थे। कुछ लड़कियाँ खेल खेला करती थीं, कुछ दुकानों पर जातीं, कुछ टहलने निकल जातीं या आवास की सीढ़ियों पर बैठ कर बातें किया करतीं।

मुझे दिन के इस सुहाने समय मे, जबकि बादल-विहीन नीला आसमान पश्चिम में नारंगी रंग में खिल उठता था, अपनी सहेलियो के साथ घूमना बहुत अच्छा लगता था। खेलों में भी आनन्द आता था। हम लोग बास्केट-बाल से मिलता-जुलता एक खेल, "नेट-बाल" खेला करते थे, जो मैंने दिल्ली पब्लिक स्कूल में सीखा था। इसके अलावा "रिंगटॉस" और "थ्रो-बॉल" भी, जो

"वालीवॉल" जैसा होता था, खेला करते थे।

७ बजे हमें हाजिरी के लिए छात्रा-वास पहुँचना पड़ता था। उसके बाद हम पढते थे या नृत्य और वाद्य-वादन का अभ्यास करते थे या लेक्चर, सभा, नाटक आदि देखने जाते थे। लगभग ८-३० बजे भोजन होता था। गाना, बातें और हो-हल्ला ये चीजें—जो मेरे खयाल से लड़कियों के सभी आवासों में पायी जाती हैं, खत्म होने पर हम जल्दी-से-जल्दी सो जाते थे।

बुधवार को शान्तिनिकेतन में साप्ताहिक छुट्टी रहती थी। विद्यार्थियों को उस रोज अपनी इच्छा के लगभग सभी काम करने की छूट रहती थी। न जाने क्यों शान्तिनिकेतन के बुधवार मुझे बड़ सुहाने, गर्म और खिली हुई धूपवाले दिनों के ही रूप में याद हैं जिनमें कि मैं पूरी तरह निश्चिन्त हो कर चमकती हुई धूप का आनन्द लिया करती थी। मुझे याद है मुझ पर कपडे धोने का पागलपन-सा सवार था। धुलने के बाद भी उन कपडों की सफाई और ताजगी की खुशबू मुझे बड़ी प्यारी लगती थी; और उस वडे-से घास के मैदान में कपडे डालते वक्त जो धूप की गर्मी मे अपनी पीठ पर महसूस करती थी, वह भी उतनी ही प्यारी लगती थी।

उस दिन मुझे वे सब काम करने का मौका मिलता था जिनकी कि सप्ताह भर उपेक्षा होती रहती थी। अपने कोर्स की किताबें पढने के अलावा मैं बाहरी किताबें पढ लेती थी। कभी-कभी मैं अपनी सहेली विजया से बँगला भी सीखती थी या वह मुझे अपने साथ शान्तिनिकेतन की ही किसी पिकनिक पर ले जाती थी। और अगर मेरा जी कोई काम करने को न चाहता, तो मैं अपनी नींद की ही कमी पूरी कर लेती थी—वास्तव में मेरा यह काम सप्ताह भर में सबसे ज्यादा पिछड जाता था।

हर बुधवार को सुबह मन्दिर में सभी धर्मों की मिली-जुली प्रार्थना होती थी, जिसमें सभी विद्यार्थियो मे उपस्थित होने की आशा की जाती थी। मन्दिर की इमारत छोटी और चौकोर थी जिसके कुछ हिस्से खुले हुए थे और कुछ में रंगीन शीशे की खिडकियाँ थी। अक्सर मेरे पहुँचने तक इमारत विद्यार्थियो से खचाखच भर चुकी होती थी और कुछ लडके-लडकियाँ बाहर सीढियो पर बैठे होते थे। प्रार्थना में गायन होता था; फिर प्रार्थना और अन्त में एक पुजारी जी बँगला में भाषण करते थे।

मुझे इतनी बँगला कभी आयी ही नही जो मैं प्रार्थना को पूरी तरह समझ पाती। इसलिए मैं कोशिश करके बाहर सीढ़ियो पर अपने बैठने का स्थान बनाती थी। मैं वहाँ बैठकर शान्तिनिकेतन का डाकखाना, उसके पेड और मैदान तथा स्कूल के सामने से पास के गाँव को जानेवाली सड़क की कभी-कभास की चहल-पहल देखती थी और अपने विचारों की लगामें ढीली कर देती थी।

अक्सर शान्तिनिकेतन की इमारतों को देखते हुए मैं सोचती थी कि वास्तव में शान्तिनिकेतन सुन्दर नही है। शायद विश्वविद्यालय की इमारतें उसे सुन्दर नही दीखने देती। वे लगभग सब-की-सब पुरानी कक्रीट और ईंट की बनी एक-या दो-मजिली थी, जिनमे स्थापत्य-कला का ज़रा भी सौन्दर्य न था। रहने के मकान, कार्यालय, पुस्तकालय, सग्रहालय, दुकानें, थियेटर और विश्वविद्यालय के विभिन्न स्कूल, कला भवन, संगीत भवन, कालेज (जिसकी क्लासें बाहर खुले में लगती थी), चीनी अध्ययन-भवन, हिन्दी अध्ययन-भवन और स्नातकोत्तर भवन—इन इमारतों में थे।

परन्तु उस जगह अद्भुत शान्ति का वातावरण था। मैदान खूब लम्बे-चौड़े थे। हरियाली खूब थी, दिल्ली के मुकाबले में बहुत ही ज्यादा। शान्तिनिकेतन एक चावल उत्पादक क्षेत्र में बसा हुआ है और आप टहलते हुए कुछ ही देर मे इस विद्या के सागर से निकल चावलो के खेतों और छोटे-छोटे गाँवों की उर्वर भूमि में पहुँच जाते हैं।

कभी-कभी शाम को किसी मित्र के साथ मैं किसी गाँव तक और खेतों के बीच की मेड पर टहलने निकल जाती थी। कही-कही चावल के खेत मीलो तक चले गये हैं जिनको देखकर असीम विस्तार की भावना पैदा होती है। मुझे वहाँ सौन्दर्य का अनुभव होता था।

टैगोर ने अपने इस प्रिय स्थान के विषय में लिखा है:—

निरवरोध, निर्विकार वातावरण है—इस शान्तिनिकेतन आश्रम के चारों ओर। कहीं-कहीं झाड़ियाँ निकल आयीं हैं, जिनके बीच में उन्नत ताड के वृक्ष, काले जामुन के विटप, नन्हें पौधे और चींटियों के घरौंदे दिखाई देते हैं। इन एकाकी खेतों के बीच से एक लाल पतली पगडण्डी क्षितिज के आँचल में बसे गाँव की ओर बलखाती चली गयी है; और इस मार्ग के पथिक हैं बोलपुर के बाजार को जानेवाले ग्रामीण। बास

का गट्ठर उठाये संथाल युवतियाँ कभी-कभी उधर से निकल जाती हैं। भार से लदी बैलगाड़ियाँ, जिनके कराहते पहिए दोपहर की धूप में धूल का एक बादल छोड़ देते हैं। बहुत दूर से देखा जा सकता है—इस प्रशान्त स्थली के मध्य निविड़ शाल वृक्षों का कुंज, जिसके सघन पत्तों के वातायन से किसी पथिक को मंदिर के कलश और भवन के छत के अग्रभाग की झाँकी मिल सकती है। इस आम्र-आमलक कुंज में, शाल और महुए के आँचल में बसा है—हमारा शान्तिनिकेतन आश्रम।

टैगोर की कामना के अनुसार यहाँ प्रकृति से तो हमारा निकट का सम्पर्क था, परन्तु ज्यों-ज्यों शान्तिनिकेतन के जीवन से मेरा परिचय बढ़ता गया, त्यों-त्यों मुझे अनुभव होने लगा कि जैसा संसार के और किसी भी विश्वविद्यालय में होता है, वैसे ही विद्यार्थियों और आसपास के गाँवों व नगरवासियों के बीच सम्पर्क का यहाँ भी अभाव था।

मुझे शान्तिनिकेतन ऐसा स्वर्ग मालूम हुआ जिसमें सभी के लिए पर्याप्त भोजन उपलब्ध था; रहने के लिए साफ-सुथरा स्थान था। किसी को कठिन परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं थी और न इस बात की चिन्ता थी कि अगले वक्त भोजन कहाँ से आयगा? मुझे शान्तिनिकेतन में पूर्ण सुरक्षा का अनुभव हुआ। मैं वहाँ रह सकी इसे मैं अपना सौभाग्य मानती थी। लेकिन हमारे चारों ओर ऐसे लोग रहते थे जिनका जीवन हमसे बहुत भिन्न था, जिन्हें कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी, जो हममें से कुछ विद्यार्थियों की तरह थाली का आधा खाना फेंक नहीं सकते थे।

इस वातावरण में मुझे कुछ बेचैनी का अनुभव होता था। अपने चारों तरफ के लोगों को भूलकर इस स्वर्ग के सुख का उपभोग करना आसान न था, जिसमें वे लोग हमारे साथ भाग नहीं ले सकते थे।

बारह

कढ़ाई, संगीत और कलाकौशल

ये विचार—जो मन्दिर में या शाम को घूमते समय मेरे मन में उठते थे, मेरी शिक्षा का एक अंग थे और महत्वपूर्ण अंग थे। परन्तु मेरी शिक्षा का एक और पहलू था जो शायद अधिक महत्वपूर्ण था। मेरा मतलब कालेज तथा संगीत और कला-भवनों की मेरी शिक्षा से है। चूँकि मुझे एक विशेष छात्रा के रूप में प्रवेश मिला था, मैंने ऐसा पाठ्यक्रम चुना था जिसमें कालेज की शिक्षा के साथ कला और संगीत की भी कुछ शिक्षा सम्मिलित थी।

कला-भवन के पाठ्यक्रम में मै सिर्फ़ काढने–पिरोने की कक्षा में दाखिल हुई। इस विभाग में और भी कई कला-कौशल सिखाये जाते थे—जैसे बुनाई, चमड़े का काम और बाटिक। बाटिक कपड़े पर एक तरह की छपाई का काम होता है। कला-भवन में मुख्यतया भारतीय चित्रकारी, नमूनो और शिल्प पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

कढ़ाई सीखने में मुझे विशेप आनन्द आता था। सप्ताह में दो बार दो-दो घंटे के लिए इसकी कक्षा लगती थी। इसमें पाँच-छः लड़कियाँ और थी—सब मेरी जैसी नयी। कला-भवन की इमारत के एक फर्नीचर-रहित कमरे में हम फर्श पर बैठती थीं। खुली हुई खिड़कियो से आनेवाली हवा कमरे को ठंडा रखती थी और अपने आरामदेह काम में हमें चैन मिलता था।

हम सबके पास सूती कपड़े का एक-एक बडा-सा चौकोर टुकडा था। अपने शिक्षक की सहायता से हमने कई महीनों में उसे एक रंगीन नमूने का रूप दिया। शान्तिनिकेतन से विदा होते समय तक मैं ब्लाउजो, मेजपोशो और दस्तरखानों पर नमूने काढना तथा अपनी सीखी हुई कढ़ाई दूसरों को सिखाना अच्छी तरह जान गयी थी।

संगीत-भवन की दो कक्षाओ में मैंने प्रवेश किया था—एक तबला-वादन की और दूसरी कथकली नृत्य की। तबले की जोड़ी हमेशा एक साथ बजाई जाती है। एक का स्वर ऊँचा होता है; इसे दायें हाथ से बजाते हैं। दूसरे का

स्वर गंभीर होता है ; इसे वाये हाथ से वजाते हैं। तवला कभी-कभी स्वतंत्र वाद्य के रूप में भी वजाया जाता है, परन्तु अधिकतर उस पर दूसरे वाद्यो के या गायन के साथ संगत की जाती है।

मैंने तवला-वादन सीखना क्यों पसन्द किया ? इसके शायद दो कारण थे: एक तो मुझे ढोल की लय और आवाज़ पसन्द थी और दूसरे भारतीय वाद्यों में मुझे यह सवसे सहज लगा। यद्यपि शीघ्र ही मुझे पता चल गया कि तवला-वादन में कुशलता प्राप्त करने के लिए मुझे वहुत कठिन अभ्यास करना पड़ेगा। फिर भी मुझे खुशी थी कि मैंने संगीत-शिक्षा में यह वाद्य चुना।

हमारे शिक्षक वंगाली थे। क़द के लम्वे और रूप के सुन्दर। उनकी लम्वी, पतली और मजवूत उँगलियाँ ठीक वैसी ही थीं जैसी कि तवला वजाने के लिए चाहिए। मै कोई कलाविद् तो नहीं हूँ, लेकिन मेरा ख़याल है कि वे तवला वहुत अच्छा वजाते थे।

जव हमें वताते-वताते वे अपने तवला वजाने में तल्लीन हो कर उसे वजाते ही जाते थे तो मुझे वहुत आनन्द आता था। आँखें वद करके वे अपना सर इधर-उधर मटकाते जाते थे और अपने नंगे पैर को तवले को ताल पर झटकते रहते थे। मैं उनका तवला-वादन सुनते या देखते कभी थकती ही नहीं थी।

हमारी तवले की कक्षा सप्ताह में तीन वार एक घण्टे के लिए लगती थी। कक्षा में चार-पाँच लड़के और दो-तीन दूसरी लडकियाँ थीं, इसके लिए भी हम सगीत भवन के एक कमरे में फर्श पर वैठते थे।

संगीत भवन के दूसरे कमरे में हमारी कथकली नृत्य की कक्षा लगती थी। भारत के शास्त्रीय नृत्य की शैलियो में से केवल दो की शिक्षा शान्तिनिकेतन में दी जाती है। कथकली और मणिपुरी की। कथकली दक्षिणभारत का तीव्र-गति का, प्रवल, लयदार और अत्यंत अभिव्यंजनात्मक नृत्य-नाटक है। मणिपुरी, जिसका उद्भव उत्तर-पूर्वी भारत के मणिपुर में हुआ, प्रवल तो कम है, किन्तु कोमल अधिक है। नृत्य की ये दोनो शैलियाँ हाथ और मुख के परिचालन पर आधारित हैं।

लका के प्रसिद्ध कथकली नर्तक प्रेमकुमार, जो मेरी सहपाठी छात्रा के पति हैं—कहते थे कि "शरीर के परिचालन के द्वारा आन्तरिक भावनाओं की वाह्य अभिव्यंजना" का नाम नृत्य है। वे कहते थे कि अभिव्यंजना के दो मुख्य

माध्यम हैं—एक अभिनय अर्थात् मुख पर भाव-प्रदर्शन और दूसरा मुद्राएँ अर्थात् हाथों और उँगलियों का परिचालन; जिसके बिना नृत्य में न कोई अर्थ रहता है, न सौन्दर्य।

तथापि विभिन्न मुद्राओं और उनके तात्पर्य को समझे बिना भी भारतीय नृत्य खासकर कथकली को देखने में आनन्द आता था। मैं अपने अभ्यास के समय भी संगीत भवन की खिड़कियों से नृत्य की विभिन्न कक्षाओं को देखती रहती थी।

कथकली की प्रबलता और लय के कारण मैंने उसे सीखना पसन्द किया। हमारे अध्यापक दक्षिण भारतीय थे, जो बड़ी कुशलता और सुन्दरता के साथ नृत्य किया करते थे। वे परिपूर्णतावादी थे और जल्दी ही मुझसे परेशान हो गये; क्योंकि मैं रोज कई घण्टे अभ्यास नहीं कर पाती थी।

कक्षा में तीन लड़कियाँ और थीं। हमारे शिक्षक ने पूजा नामक एक सुन्दर नृत्य से हमारी शिक्षा प्रारम्भ की। हम एक बड़े-से, बीच में उभरे हुए और दोनों सिरों पर बजनेवाले एक वाद्य मृदंग की ताल पर नृत्य करते थे, जिससे बड़ी गम्भीर आवाज़ निकलती थी। वह बिलकुल नृत्य के अनुसार बजाया जाता था और उसकी ताल से नृत्य के पदसंचालन का संकेत मिलता था। तबले की ही तरह इसकी हर ध्वनि का नाम होता है—जैसे "ते," "रे," "की"। नृत्य के "बोल" हमने ज़बानी याद किये।

लगभग एक महीने बाद हमने विभिन्न मुद्राएँ सीखनी शुरू कीं। कुल मुद्राएँ चौबीस होती हैं और हर एक के दो से तीस तक या इससे भी अधिक अर्थ होते हैं। उदाहरण के लिए, पहली मुद्रा "पताका" कहलाती है। इस "पताका" मुद्रा के विभिन्न रूपों से शेर, राजा, सूर्य, हाथी आदि का बोध कराया जाता है। इन्हें याद करना आसान न था। जैसे-जैसे मैं आगे की मुद्राएँ सीखती वैसे-वैसे पहले की सीखी हुई भूलती जाती—किन्तु अच्छे कथकली नर्तक को ऐसी सैकड़ों मुद्राएँ याद रहती हैं।

मेरी अन्य कक्षाएं कालेज में होती थीं। मैंने भारतीय इतिहास, रवीन्द्र-साहित्य (टैगोर की कविताओं, नाटकों और दर्शन का अध्ययन), नागरिक-शास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र चुने थे और कुछ समय के लिए भारतीय कला का इतिहास एवं बंगला भी।

इनमें मेरी सबसे अधिक रुचि भारतीय इतिहास के प्रति थी। हमारे अध्यापक इस विषय के महान विद्वान थे और इस बात के लिए बड़े चिन्तित रहते थे कि उनके छात्र जितना अधिक हो सके उतना अधिक ज्ञान प्राप्त करें। कक्षा के बाद जब लड़के उनसे प्रश्न करते थे, तब उन्हे उनका पूरा-पूरा उत्तर देने में कुछ दूसरे अध्यापकों की प्रवृत्ति के विपरीत बहुत आनन्द आता था।

उन्होंने विषय का आरम्भ एक काफी लम्बी परन्तु ज्ञानवर्द्धक भूमिका से किया, जिसमें भारतीय इतिहास के अभाव, उसके स्रोतो, भारत के भूगोल आदि पर खूब प्रकाश डाला गया था। फिर हमने ईसा के २५०० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होनेवाले भारतीय राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन किया। विश्वास किया जाता है कि मोहन-जो-दड़ो की, जो अब पश्चिम पाकिस्तान में है, सभ्यता का यही चरम युग था।

भारतीय इतिहास के प्राध्यापक कालेज के अन्य विषयो की तरह इतिहास पर भी भाषण देते थे। दिल्ली पब्लिक स्कूल की क्लासों की तरह यहां विचार-विमर्श नही होता था और कक्षा में प्रश्न करने के अवसर कम मिलते थे। हम नोट ले लेते थे। ज्यादा जानकारी के लिए हमें पुस्तकालय से पुस्तकें लाकर पढने की सलाह दी जाती थी।

भारतीय इतिहास तथा नागरिक शास्त्र की दो शाखाओ—अर्थ शास्त्र और राजनीति, जो मैंने लिये थे—की कक्षाएं पेडो की छाया में लगती थीं। हम विद्यार्थी फर्श पर छोटी-छोटी चटाइयो पर अर्द्धचन्द्राकार बना कर बैठते थे और अध्यापक हमारे सामने बैठते थे। गर्मियो की सुबह की तपन में हवा सुहावनी लगती थी। सर्दियो की ठंड में सूरज की गर्मी सुहावनी लगती थी; और पेडो का कोमल मर्मर और पक्षियो का कलरव अत्यत आनन्ददायक होता था।

भारतीय इतिहास के बाद मुझे टैगोर का साहित्य और दर्शन सबसे अधिक पसन्द था। इस कक्षा में मुख्यतया गैर-बंगाली छात्र होते थे। हमारे अध्यापक, जो टैगोर-साहित्य के पडित माने जाते थे, जोर देते थे कि चूंकि टैगोर की कुल पांच प्रतिशत रचनाएं ही अंग्रेजी में अनूदित हुई हैं या लिखी गयी हैं, इसलिए जो लोग सचमुच टैगोर-साहित्य का अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हे बंगला सीख कर मूल बंगला में उसका अध्ययन करना चाहिए। मैंने जब शान्तिनिकेतन छोड़ा, तब तक मैं इतनी ही बंगला सीख पायी थी कि बंगला भाषा की सरल

कविताएँ पढ़ और समझ सकूँ।

अपने अध्यापक के मुख से बँगला कविताओं के पाठ को सुनने में बड़ा आनन्द आता था। वे संगीतमय होती थी—लय से पूर्ण, कोमल और प्रवाहमय। मेरा ख़याल है कि टैगोर की कविताओं का अधिकांश अंग्रेजी अनुवाद भी सुन्दर है। (यद्यपि आमतौर पर मैं कविताओं की भक्त नहीं हूँ) अपनी पसन्द की एक कविता मैं यहाँ प्रस्तुत करती हूँ।

चैत्र की दावाग्नि वन-वन विचरण करती हुई,
कोने-कोने से पत्तियों और फूलों में अपनी आभा प्रकट करती है।
आकाश रंगों से उमड़ा पड़ता है,
पवन संगीत से उन्मत्त है।
झंझावात से झकझोरी हुई वनस्थली की शाखाएँ
हमारे रक्त में भी अपनी हलचल का संचार करती हैं।
हवा हर्षोल्लास से दिग्भ्रान्त है
और समीर शीघ्रता से एक फूल से दूसरे फूल के पास जाकर
उसका नाम पूछ रहा है।

रवीन्द्र साहित्य की कक्षा में थोड़े-से ही छात्र थे—एक पंजाबी लड़की, एक अमरीकी लड़का, एक लंका का छात्र, एक दक्षिण भारत का, केनिया का ओकेलो और मैं। अपराह्न में कक्षा लगती थी और हममें से अधिकांश के लिए दिन की अन्तिम कक्षा होती थी। इसलिए अक्सर हम लोग बैठ कर घण्टों बातें करते और कभी-कभी इन बातों में विषय तो कहीं-का-कहीं छूट जाता। इस कक्षा में और सब कक्षाओं से अधिक घनिष्ठता रहती थी। हम में से हर एक बारी-बारी से पढ़ता था। फिर प्रश्न पूछे जाते थे और विचार-विमर्श होता था।

कक्षा एक इमारत की बरसाती में लगती थी, जिसके पास कालेज के दफ़्तर और पास के होस्टल में रहनेवाले छात्रों के अध्ययन-कक्ष थे। उसके इतनी निकट एक चाय की दुकान थी कि चायवाले को पुकारा जा सकता था। कक्षा के बाद रोज़ विचार-विनिमय के दौरान में हम आपस में सबके लिए चाय मंगा लेते थे; फिर शायद समय के साथ उसके दौर भी बढ़ते रहते थे।

हमारे अध्यापक अशोक दा एक विभूति थे—दया और सौम्य की प्रतिमूर्ति। फ़ुरसत के समय गद्य या पद्य समझने में वे मेरी सहायता करते थे। मेरे विश्व-विद्यालय छोड़ने पर जब उन्होंने तथा कक्षा के दूसरे छात्रों ने टैगोर की तीन पुस्तकें—दो बंगला और एक अँग्रेज़ी भाषा की, मुझे भेंट की तो मुझे अपार हर्ष हुआ।

मेरे अन्य विषय—वनस्पतिशास्त्र और नागरिक शास्त्र, मेरे खयाल से वैसे ही थे जैसे दुनिया के किसी भी हिस्से में ये होते हैं। वनस्पति शास्त्र की कक्षा एक सुसज्जित प्रयोगशाला में सप्ताह में चार-पाँच बार लगती थी। कक्षा में लगभग बीस लड़के-लड़कियाँ प्रथम वर्ष के छात्र थे। उनमें से अधिकांश को अँग्रेज़ी मामूली ही आती थी। इसलिए अक्सर वनस्पति शास्त्र के अध्यापक बँगला भाषा में शिक्षा दिया करते थे। नागरिक शास्त्र के दोनों अनुविषय—अर्थ-शास्त्र और राजनीति में भी भाषा की यही समस्या थी। किन्तु हमारी पाठ्य-पुस्तकें अंग्रेज़ी में थीं; क्योंकि अब तक बंगला या दूसरी भारतीय भाषाओं में ये पुस्तकें बहुत कम छपी हैं।

मेरे अर्थशास्त्र के अध्यापक, जिनसे मेरा बहुत मतभेद रहता था, अमरीका को पूँजीवादी देश कहते थे और फिर पूँजीवाद के लक्षण इन निम्न-लिखित पूर्वाग्रह-पूर्ण शब्दों में बयान करते थे :—

(१) वहाँ निजी सम्पत्ति होती है।

(२) उत्पादन मुनाफे के उद्देश्य से होता है।

(३) कोई गाँव आत्म-निर्भर नहीं होता।

(४) आय में भारी विषमता रहती है; धनी बहुत कम और निर्धन बहुत अधिक होते हैं।

(५) यह पूँजी के मालिकों की इच्छा पर निर्भर करता है कि कब, कैसे और किस चीज़ का उत्पादन करें।

हमारी अर्थ-शास्त्र की पुस्तकों में लिखा था :—

पूँजीवाद की बुराइयों के कारण सोवियत रूस में उसका अन्त हुआ। वहाँ अब मज़दूर वर्ग का शासन है, जिसने उत्पादन की समाजवादी व्यवस्था कायम की है। समाजवाद के अन्तर्गत एक पूँजीपति मज़दूरों को नौकर नहीं रखता बल्कि उनको राज्य काम देता है, जो उत्पादन के सारे साधनों का स्वामी होता है और एक सुनियोजित योजना

के अनुसार उनका संचालन करता है। उत्पादन से होनेवाली प्राप्ति..... .समानता के आधार पर लोगों को बाँटी जाती है।

एक रात हमारे अर्थ-शास्त्र के अध्यापक ने अमरीका की अर्थ-व्यवस्था के विषय में विश्वविद्यालय के छात्रो के सामने भाषण दिया। सौभाग्य से भाषण के बाद प्रश्नो के लिए समय रखा गया था। उसमें दो अमरीकी लड़को में से एक ने उन ग़लतफ़हमियों को दूर किया, जो मेरे अध्यापक ने पैदा कर दी थी।

मुझे शान्तिनिकेतन में ऐसी अमरीका विरोधी भावना बहुत कम देखने को मिली, परन्तु भारत के विभिन्न भागो में भारतीय विश्वविद्यालयो के छात्रो के साथ अपने सम्पर्क से मेरे पिता को मालूम हुआ कि बहुत-से छात्र अमरीका की अर्थ-व्यवस्था और अमरीकी सरकार की विदेश-नीति को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। पश्चिमी उपनिवेशवाद के उनके लम्बे और कड़वे अनुभव को देखते हुए उनका यह सन्देह उचित ही है और अकारण नही कहा जा सकता। फिर भी, मेरे पिता ने अनुभव किया कि अधिकांश मामलों में ग़लतफ़हमी और अपूर्ण ज्ञान ने उनके विचारों पर रंग चढ़ा दिया था तथा वे सच्ची जानकारी हासिल करने को उत्सुक थे। मेरे पिता ने उन्हे असली जानकारी करायी।

किन्तु शान्तिनिकेतन में लड़कियाँ अधिकतर इन विषयों की चर्चा नही करती थी और शायद इन पर विचार भी नही करती थीं। मेरा ख़याल है कि अगर लड़कों से मेरी ज्यादा जान-पहचान होती, तो उनके विचार कुछ भिन्न ही निकलते।

अमरीका के विषय में उनके विचार कुछ भी हो, उसके विषय में जो कुछ भी उन्हे ज्ञात था, उसे वे पसन्द करते हो या नापसन्द; लेकिन, मै समझती हूँ कि इन बातो ने मेरे प्रति उन छात्रो के रुख को किसी तरह प्रभावित नही किया। नलिनी शान्तिनिकेतन की मेरी सबसे घनिष्ठ सहेली थी। अमरीकी सरकार की नीतियों की ईमानदारी के प्रति अपना सन्देह और अमरीकी जनता के प्रति अपने साधारण अविश्वास को उसने मुझसे प्रकट किया।

चूँकि नलिनी ने अपनी धारणा शान्तिनिकेतन आनेवाले उन थोड़े-से अमरीकी लोगों को देखकर बनायी थी, जिन्हे उसने भी माना कि, हमेशा अमरीका का सच्चा प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। इसलिए मैने उससे अमरीका-

विरोधी न बनने का आग्रह किया। मेरा विचार है कि उसे अपने देशवासियों पर, विशेषकर अर्थशास्त्र के हमारे अमरीका-विरोधी अध्यापक के समान देश-वासियों पर—गहरा विश्वास था। उन पर सन्देह करना उसके लिए सहज न था। विदेशियों पर सन्देह करना फिर भी आसान था।

१९५२ के सितम्बर में नलिनी ने मुझसे कहा कि अमरीका में भारत के प्रति जो सद्भावना का सागर उमड पड़ा है, उस पर उसे सन्देह है। उसकी समझ में नही आता था कि अमरीकी सरकार इतनी सहायता क्यो दे रही है ? उसका खयाल था कि सद्भावना के अतिरिक्त इसका कोई गुप्त कारण होना चाहिए। उसे सन्देह था कि वास्तव में अमरीका चाहता है कि अगर तीसरा महायुद्ध हो तो उसमे भारत उसका साथ दे। नलिनी का मत था कि अगर यही वह अतिरिक्त कारण था, तो अमरीका स्पष्ट रूप से उसे स्वीकार क्यो नही करता ?

एक बार उसने हमारे देश की हब्शी-विरोधी भावना की चर्चा की। उसने कहा—"वहाँ पिछले वर्ष सौ से अधिक मारपीट की घटनाएँ हुईं।" वह मेरी इस बात पर विश्वास करने को तैयार नही थी कि ऐसी घटनाएँ तेजी से अतीत की बातें बनती जा रही हैं। कम्यूनिस्ट भी तो एशियाई छात्रों में ऐसी झूठी बातें फैलाने में कोई कसर नही रखते।

तेरह

नयी सहेलियाँ

शान्ति-निकेतन में मेरा दूसरा महीना गुजरते-गुजरते मुझे जान पड़ने लगा कि मेरा उत्साह घट रहा है। मैंने आशा की थी कि शान्ति-निकेतन में लड़कियाँ (और नही तो केवल इसी कारण कि वे शान्ति के निकेतन में रहती हैं) शान्त, सीधी-सादी और परिश्रमी होंगी। परन्तु मुझे शीघ्र ही पता चल गया कि लडकियाँ जहाँ भी जमा होती हैं, चाहे अमरीका में हो चाहे भारत में, साधारणतया वे एक जैसी ही होती हैं। शान्ति-निकेतन ने इस मामले

में ऐसा निरालापन नही दिखाया, जिसकी कि मैंने आशा की थी।

तथापि यह निराशा, जो कला-भवन के छात्रावास की लड़कियों की निश्चलता और वाचालता से पैदा हुई थी, अधिक नही टिकी। शान्ति-निकेतन की बहुत-सी स्मृतियाँ मेरे मस्तिष्क में हैं—अपनी अनेक सहेलियों की और उनके साथ गुजरे हुए अपने आनन्दमय समय की। इन स्मृतियो की तुलना में यह निराशा नगण्य ही है।

कला-भवन के छात्रावास में भारत के लगभग सभी प्रान्तो की लडकियाँ थी। कम-से-कम एक-तिहाई तो कलकत्ते और पश्चिम बगाल के दूसरे हिस्सो की थी। फिर काश्मीर की लडकियाँ थी; पंजाब की थीं, दिल्ली, उत्तर-प्रदेश, मध्यभारत, बम्बई, हैदराबाद और आसाम की थो। दो लडकियाँ लका की थी। समीरा इराक की थी; और एडना, जो सगीत और नृत्य सीखती थी, अमरीका की थी।

आमतौर पर वहाँ बँगला भाषा सुनने को मिलती थी। फिर भी मेरे-जैसे ग़ैर-बंगाली, जिनसे बँगला सीखने का आग्रह भी किया जाता था, बँगला बहुत कम जानते थे। वे आपस मे तो हिन्दी या अंग्रेज़ी में बातें करते थे और बंगालियो के साथ अंग्रेज़ी में।

लड़कियाँ आमतौर से बड़ी आकर्षक थी। उनके सुडौल नाक-नक़्श, स्निग्ध त्वचा, काली गहरी आँखें, स्वच्छ दन्तावलि और सुन्दर सघन काले बाल, जो तेल से चमकते और चोटियो में गुथे हुए होते थे। अधिकांश लड़कियाँ छरहरे शरीर की और सुन्दर थी।

उनका पहनावा—साधारण सूती साड़ी और ब्लाउज़—बिलकुल सादा होता था, परन्तु गौरवपूर्ण। साड़ियाँ सफ़ेद या हल्के हरे, नीले, गुलाबी, पीले या बैंगनी रग की होती थी, जो उनके गेहुँए रग पर फबती थी। कुछ लड़कियाँ सादी चप्पलें पहनती थी—अधिकाश नगे पैर घूमती थी।

भारतीय युवती का शृंगार बहुत श्रम-साध्य होता है। बालो में तेल डालना, कंघी करना और चोटी गूँथना ही बहुत कठिन होता है। कई लड़कियाँ आँखों का सौन्दर्य निखारने के लिए काजल लगाती थी। कुछ माथे पर लाल बिन्दी लगाती थीं और विवाहित बगाली लड़कियाँ माँग में सिन्दूर भरती थीं। यह सच है कि दर्पण देखने में भारतीय लड़की उतना ही समय लगाती है, जितना

कोई अमरीकी लड़की। परन्तु भारतीय युवतियो में एक ताजगी और सादगी के दर्शन होते हैं। कारण चाहे जो भी हो, आपको भान होता है कि जो सौन्दर्य उनमें दिखायी देता है वह पूर्णतया उनका अपना है।

थोड़े ही समय में छात्रावास ने मुझे अपने परिवार का अंग बना लिया और मैं अपरिचित व नयी न रही। पहिली भेंट में कई लड़कियां मुझसे जरा भी नहीं खुली। लेकिन कुछ ने तुरन्त ही मुझसे प्रेम और मित्रता का सम्बन्ध बना लिया।

इनमें एक थी विजया। मुझे शान्तिनिकेतन की दिनचर्या को अनुकूल बनाने में विजया ने मेरी बडी सहायता की। हम दोनो सोलह बरस की और छात्रावास में सबसे कम उम्र की थी। चार वर्ष के कला के पाठ्यक्रम में उसका पहला वर्ष था।

विजया का घर कलकत्ते में था और उसकी मातृभाषा बँगला थी। वह अंग्रेजी और हिन्दी भी बोलती थी। अपने शुरू के दिनो में एक दिन सन्ध्या को मैं विजया के साथ काफ़ी लम्बी दूर, कलकत्ता उत्तर-पूर्वी बिहार रेलवे लाइन तक घूमने गयी। यह लाइन विश्वविद्यालय की पूर्वी सीमा थी। उस समय विजया ने मुझे बँगला का पहला पाठ पढाया। हम रेल की पटरी से परे पुश्ते पर बैठे थे। तब उसने मुझे बताया कि बँगला हिन्दी तथा अन्य छः-सात भारतीय भाषाओं से कुछ मिलती-जुलती है। क्योंकि संस्कृत ही इन सब भाषाओं की जननी है। संस्कृत भारतीय-यूरोपीय भाषाओं के परिवार की है और अब भारत में बोली नहीं जाती।

पुश्ते पर बैठना बड़ा भला लग रहा था। हल्की-हल्की हवा चल रही थी और मौसम ठंडा था। जब हम वहां बैठे थे तब एक रेलगाडी उधर से गुजरी जिसके डिब्बे मुसाफिरो से पटे पड रहे थे। जब वह फक-फक करती हुई चढाई पर चढ़ रही थी तब हमने अपने हाथ हिलाये।

बरसात का मौसम अभी खत्म नहीं हुआ था। सुबह तड़के पानी पड़ चुका था। लेकिन अपराह्न में बादल फट गये थे और नीले आसमान में सूरज चमकने लगा था। हम जब लौटे तब सूर्य डूब रहा था।

इसके बाद ऐसी अनेक सन्ध्याएँ मैंने विजया के साथ घूमने में बितायी। वह बडी मस्त थी। उसमें उत्साह भी अपार था। अक्सर उसके बालो में एक सुन्दर फूल लगा रहता था।

कला-भवन के आवास की हर लड़की किसी-न-किसी कारण से मुझे पसन्द थी। विजया को मैं उसके अच्छे स्वभाव और उत्साह के कारण पसन्द करती थी। एक और लड़की थी सोमा, जो मुझे बेहद अच्छी लगती थी, परन्तु उससे मेरी कभी घनिष्ठता न हो सकी। सोमा लंका की थी। उम्र में वह आवास की ज्यादातर लड़कियों से बड़ी थी और कथकली के प्रसिद्ध नर्तक प्रेमकुमार की, जिनका मैं पहले उल्लेख कर चुकी हूँ, पत्नी थी। वह बहुत सुन्दर थी—छरहरा बदन और लम्बा क़द। उसका स्वभाव शांत, मैत्रीपूर्ण और उदार था। मैंने उसे कभी क्रोधित होते हुए नहीं देखा।

परन्तु मेरी सच्ची सहेलियाँ शिक्षा-भवन (कालेज) मे थीं। इनमे नलिनी मुझे सबसे अच्छी लगती थी। नलिनी पंजाबी थी—भारी आवाज़, हृष्ट-पुष्ट और आकर्षक। अन्य अनेक लड़कियों के विपरीत वह बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति की थी और घूमने- फिरने की शौक़ीन थी। विभाजन के पहले वह अपने परिवार के साथ पश्चिम पंजाब मे रहती थी, जो अब पाकिस्तान में है। १९४७ में वे लोग भागकर भारत आये थे और दिल्ली में बस गये थे। नलिनी की मातृ-भाषा पंजाबी थी। इसके अतिरिक्त वह अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी बोलती थी और कुछ बँगला भी, जो उसने शान्तिनिकेतन आने के बाद सीखी थी।

शान्ति-निकेतन में तो यह उसका पहला ही वर्ष था, परन्तु वह तृतीय वर्ष (बी. ए.) की छात्रा थी। मेरी और उसकी कक्षाएँ इकट्ठी होती थी। गाँवों तथा गाँवों के लोगों के प्रति उसे भी वैसी ही दिलचस्पी थी, जसी मुझे। शान्ति-निकेतन के हमारे जीवन तथा पास के गाँवों और नगर के जीवन के बीच सम्पर्क का अभाव उसे भी वैसा ही खटकता था, जैसा मुझे।

शान्ति-निकेतन आने के कुछ ही समय बाद एक दिन मैं, नलिनी और विजया—हम तीनो छात्रावास से पश्चिम की ओर घूमने गयी। श्रीनिकेतन जाने वाली कच्ची सड़क पर हम चल पड़ी। श्रीनिकेतन शान्तिनिकेतन से लगभग तीन मील दूर, ग्राम-विकास-केन्द्र है। हम एक छिछली झील, पानी से भरे धान के खेतों और विश्वविद्यालय के कुछ भवनों के पास से गुज़रे। कोई एक मील दूर हमारी बायी तरफ़ एक छोटा-सा गाँव पड़ा, जिसमें आठ-दस छोटी-छोटी फूस के छप्परों से छायी हुई कच्ची झोपड़ियाँ थीं। धान के खेतों के नीचे, एक ऊँचे-से टीले पर वे स्थित थीं। बरसात का मौसम था। हम गाँव के अंदर

उसकी एकमात्र गली में चली जा रही थीं कि पानी पड़ने लगा। हमने एक ठिंगने कद और साँवले रंग की औरत से उसके आँगन के छप्पर में शरण लेने की अनुमति माँगी। "अवश्य" उसने कहा और हम उस छोटी-सी कोठरी में बैठकर पानी के रुकने की बाट देखने लगीं।

छप्पर साफ और सूखा था। कोने में एक नाँद थी जिस पर एक बछड़ा घास खा रहा था। कच्चे फर्श पर लकड़ी का एक हल तथा कई दूसरे औजार रखे थे। दीवारों पर और छत के लट्ठों से मूँज की बड़ी-बड़ी टोकरियाँ लटक रही थीं। हमने लगभग आधे घण्टे का समय वहाँ गा कर और बातें करके बिताया और बारिश रुकने पर हम छात्रावास को लौटीं।

शान्तिनिकेतन के पास के गाँवों में या तो बंगाली लोग रहते हैं या संथाल। हम संथाल गाँव में पहुँचे थे। यह प्रश्न विवादग्रस्त है कि ठिंगने कद और गहरे रंगवाले संथाल लोगों के पूर्वज द्रविड़ थे या उस आदिवासी दल के थे, जिसके विषय में अनुमान लगाया जाता है कि वह द्रविड़ों से भी पहले भारत में बसा हुआ था। जो भी हो, यह तो ज्ञात हो चुका है कि संथाल भारत के आदिवासियों में से थे, जिन्हें ईसा के २५०० वर्ष पूर्व आर्यों ने आक्रमण करके बिहार, पश्चिम बंगाल और भारत के मध्य भाग में खदेड़ दिया था।

इस तरह बाहरी दुनिया से बिलकुल अलग जंगल में रहने के कारण उनका रहन-सहन और उनके कुछ रीति-रिवाज अब तक लगभग ज्यों-के-त्यों चले आ रहे हैं। आज वे भारत की सबसे असभ्य जातियों की गिनती में आते हैं। यह सही है कि शान्तिनिकेतन के आस-पास के संथालों का कुछ समय से बंगाली गाँववालों के साथ निकट सम्पर्क है और श्रीनिकेतन ने जो काम किया है, उससे भी वे प्रभावित हुए हैं। फिर भी उनका एक अलग वर्ग है।

शान्तिनिकेतन छोड़ने के कुछ पहले एक छुट्टी के दिन मैं और नलिनी दोपहर में एक संथाल गाँव में गयीं। उसकी संकड़ी गली और छोटे-छोटे घर लगभग पूरी तरह सूने पड़े थे। कुछ बच्चे धूल में खेल रहे थे और एक घर के चबूतरे पर दो लड़कियाँ धान कूट रही थीं। वे लजाने लगीं, फिर भी उनमें स्नेह था। हम एक दूसरे की भाषा तो समझ नहीं सकती थीं, इसलिए इशारों में हमने उन्हें समझाया कि हम उनकी सहायता करना चाहती हैं।

वे धान से भूसी अलग कर रही थी। उनका तरीक़ा अजीव था। चवूतरे की कच्ची जमीन में प्याले की शक्ल का एक छोटा-सा गड्ढा था। उसमे मुट्ठी भर धान डाला जाता था। लकडी का एक भारी तख्ता वहाँ लगा था जिसके एक सिरे पर एक ऐसी चीज वनी हुई थी जो गड्ढे में ठीक वैठ जाती थी। यह लकड़ी का तख्ता एक ओर से ऊपर उठता था तो दूसरी तरफ से नीचे जाता था। जब पास के सिरे को नीचे दवाया जाता था तो गड्ढे मे वैठने-वाला सिरा ऊपर उठ आता था। छोड़ देने पर वह सिरा धम्म से गड्ढे में गिर जाता था और धान का छिलका टूट जाता था। काम वहुत मेहनत का था।

शेप घर वन्द थे और उनमें ताले पड़े थे। जो थोडे-से खुले थे उनमें से एक में हमने एक अधेड़ औरत को आँगन में धान पीसते देखा। उसका नन्हा नाती पास ही खेल रहा था। हमने वँगला भापा में उससे पीने को पानी माँगा और जव उसने उसी भापा मे उत्तर दिया तो हम चकित हो गयी। वह वोली कि उसने अपने घर के मर्दो से मामूली वँगला सीखी थी। घर के कुछ मर्द धान के खेतो में काम न रहने पर वंगालियों और विहारियो के साथ मजदूरी किया करते हैं।

उसका घर साफ और ठंडा था। उसमें खिड़कियाँ न थी इसलिए अंदर अंधेरा था। वह पीने का पानी मिट्टी के एक घड़े में रखती थी। घड़े पर चित्रकारी की गयी थी।

हमने पूछा कि गाँव के सव लोग कहाँ गये? उसने वताया कि अधिकाश लोग वोलपुर के वाजार गये है। कुछ जो मजदूरी करते थे, काम पर गये थे। उसका स्वभाव वडा मधुर था और हमारा साथ पा कर वह वहुत खुश हुई। परन्तु थोडी ही देर में हम चल दी और सुर्ख तथा धूप से तपे खेतो में होकर धीरे-धीरे अपने रास्ते लौटी।

शान्तिनिकेतन में मेरी एक और घनिष्ठ सहेली थी—मनजीत। वह भी पंजाव की विस्थापित थी। मनजीत का घर पंजाव के उत्तर-पूर्वी कोने में था; भाखड़ा-नगल नहर के पास जहाँ उसके पिता ओवरसीयर थे।

मनजीत वड़ी शान्त और निष्कपट लड़की थी। वह हाथ की कती-वुनी खादी के कपड़े पहनती थी, जैसे कि सेवाग्राम के लोग पहना करते थे। अपने

घने और रूखे बालों की वह एक लम्बी-सी चोटी बाँधा करती थी।

नलिनी की तरह मनजीत भी देश की सेवा करना चाहती थी। जब मैं गर्मियों में उसके घर गयी, मैंने उसकी माँ को बहुत समझदार पाया। लेकिन कट्टर भी वह पूरी थी। नौ सौ मील की अकेले यात्रा करके स्कूल जाने का विचार उसके लिए स्वाभाविकतया नया और कुछ भय पैदा करनेवाला था। और मनजीत जैसे ख़यालों की लड़की का होना तो और भी अनहोनी बात थी।

मनजीत गाँवों में सामाजिक कार्य करना चाहती थी। वह थी भी इसके उपयुक्त। किन्तु अपनी माँ के विरोध के कारण उसे विश्वास था कि अन्त में उसके जीवन की भी वही गति होगी, जो शान्तिनिकेतन की उसकी सहेलियों की होनी थी—बी. ए. पास करो, शादी करो और फिर घरबार बसा कर अपनी गृहस्थी में लीन हो जाओ।

सर्दियों में कुछ महीने हमने दौड़ने-भागने का अभ्यास किया। आखिरी कक्षा खत्म होने के बाद अंधेरा होने तक अभ्यास चलता था। हमें आशा थी कि जनवरी में हमें शायद अखिल भारत विश्वविद्यालय खेल-कूद प्रतियोगिता में हिस्सा लेने के लिए मद्रास जाने को मिलेगा। इसका मतलब था—दोनों तरफ की चौबीस घण्टों से भी ज्यादा समय की यात्रा और दो-तीन रातें मद्रास में रहना। हम इसकी बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थीं—एक नये अनुभव और किताबों तथा अध्ययन से छुटकारे के रूप में।

मैं तश्तरी फेंकने का अभ्यास करती थी। (दिल्ली सेकंडरी स्कूल ओलम्पिक में मैं प्रथम आयी थी।) कुछ लड़कियाँ दौड़ने का, कुछ भाला फेंकने और कुछ बल्ली फेंकने का अभ्यास करती थीं। दुर्भाग्य से हमारे प्रबन्धकों को हमारे अभ्यास से दिलचस्पी नहीं थी; यद्यपि हममें और हमारे सिखानेवाले में उत्साह कूट-कूट कर भरा था। और जब मद्रास जाने का समय आया तो हमारे इतने कड़े परिश्रम के उपरान्त भी हमसे कहा गया कि हम जाने नहीं पाएँगी।

भागने का अभ्यास करनेवाली दूसरी दो लड़कियों में एक थी दीपाली, जिसके मैं बहुत निकट आयी। हम दोनों रोज़ साथ अभ्यास करती थीं। फिर जब मैं तश्तरी फेंकने का अभ्यास करती, तब वह दौड़ शुरू करने का। एक लड़के से अपने भागने का समय नोट करवाती और उसको उसके अभ्यास में सहायता देती।

दीपाली कालज में दूसरे वर्ष की छात्रा थी और उसका साथ वड़ा आनन्द-दायक होता था। मद्रास का कार्यक्रम स्थगित होनेपर हम दोनों को वहुत निराशा हुई। परन्तु जो चार लड़के जा रहे थे, उन्हें हम वोलपुर स्टेशन पर पहुँचाने गयी। हमने उनको फूलो के हार पहनाये और उनके लिए विजय की शुभकामनाएँ प्रकट की। प्रतियोगिता समाप्त होते ही उन्होंने तार से हमें सूचना दी कि उनमें से किसी ने खेल-कूदों में तो कोई नाम नही किया लेकिन वे वहाँ आनन्द जरूर मना रहे थे।

हमारे शिक्षक सुवोध वड़े फुर्तीले और आकर्षक व्यक्ति थे। अपनी सामर्थ्य-भर हमे अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देने की उन्हें लगन रहती थी। उन्होने मुझे और दीपाली को ऐसी प्रेरणा दी कि कुछ समय के लिए हम रोज़ सुवह चार-साढ़े-चार वजे उठने और छात्रावास की छत पर जा कर व्यायाम करने लगी। वह समय वड़ा सुहावना होता था। जव हम उठतीं तव अँधेरा होता था और नाश्ते के वक्त तक दिन निकल आता था। लेकिन इतनी जल्दी उठने के कारण दोपहर के भोजन के समय तक हम वुरी तरह थक जाती थी। इसलिए कुछ समय के वाद मैंने और दीपाली ने यह क्रम वन्द कर दिया।

कुछ छोटी-छोटी लड़कियाँ हमारी प्रशंसक भी थीं, जो अक्सर हमसे कोई-न-कोई मदद माँगा करती थीं। इनमे एक थीं मिण्टुनी, जो ज्यादा छोटी तो नहीं, तेरह वरस की थी और माध्यमिक स्कूल में पढती थी। उसके पिता विश्वविद्यालय के सहायक रजिस्ट्रार थे और शान्तिनिकेतन में ही उनका घर था। मिण्टुनी की माँ उमा दी फुरसत के समय दस्तकारी किया करती थी और उनका छोटा-सा घर हाथ के वुने कपड़ों, कढ़ाई के काम और वाटिक के नमूनों से सजा हुआ था।

मै वाटिक सीखने को वहुत उत्सुक थी। उमा दी ने मुझे सिखाने का भार लिया। इसलिए कोई एक महीने तक मैं लगभग रोज ही अपराह्न में या शाम को मिण्टुनी के घर जाती। फ़र्श पर वैठ कर हम साथ-साथ वाटिक का काम और वातें करती। (चूंकि मिण्टुनी अंग्रेजी कम जानती थी और मुझे वँगला अधिक नहीं आती थी इसलिए हमारी वातें सीमित ही हुआ करती थीं।)

मिण्टुनी ने दो रुमाल वनाये और मैंने एक वड़ा-सा मेज़पोश और कुछ छोटे-छोटे दस्तरखान वनाये। उमा दी ने तरीका सिखा देने के वाद मुझे किसी

भी समय उनके घर आकर वाटिक का काम करने की अनुमति दे दी। इसलिए कुछ समय के लिए मैं उनके परिवार की एक स्थायी सदस्या की तरह वन गयी।

वाटिक के काम के लिए हम हल्के रंग के सादे कपड़े पर पहिले कोई नमूना वना लेती थी। नमूना दो या तीन रग का होता था। जैसे, मैंने जो मेजपोश वनाया उसमें सफेद, पीला और नीला रंग लगा था। जो हिस्सा सफ़ेद छोडना था उस पर पहिले मैंने मोम लगा दिया। फिर मोम छुटाये विना कपडा पीला रग लिया। कपडा जव सूख गया तव मैंने उन हिस्सो पर भी मोम लगा दिया, जिन्हें पीला रखना था। अव सारे कपड़े को नीला रंग कर मोम छुटा दिया। इस काम को करने में वड़ा आनन्द आता था और काम वहुत सुन्दर होता था।

मिष्टुनी की तीन वहनें थी। एक जो उन दिनो वहाँ नहीं थी दूसरी मधुश्री, वड़ी सुन्दर और गम्भीर थी, जो कालेज में पढती थी। तीसरी टुकु जो वहुत छोटी थी और ऐसी प्यारी तथा खिलाड़िन, जैसी कि लाड़-प्यार में पलनेवाली छोटी वहनें हुआ करती हैं।

मिष्टुनी और मधुश्री से विलकुल जुदा किस्म का एक लडका था—रामप्रवेश। वह इस्पात के नगर, जमशेदपुर का रहनेवाला विहारी था। मेरा खयाल है कि वह अपने देश के भविष्य के प्रति अनावश्यक रूप से और अत्यधिक निराशावादी था।

उसने एक वार मुझसे कहा—"इतने सारे धनी ज़मीदारो के उच्च सरकारी पदो पर होते हुए भूमि-सुधार का काम वहुत ही मन्द गति से चलेगा। पूर्ण भूमि-सुधार के विना भारत कभी पूर्ण विकास को प्राप्त नही होगा।"

यह सच है कि भारत में भूमि-सुधार की गति धीमी थी। परन्तु प्रवेश के अत्यधिक निराशावाद से मै किसी भी तरह सहमत नही थी। महत्त्व की वात तो यह थी कि भूमि-सुधार के कार्यक्रम आगे वढ रहे थे। अव गति भी धीरे-धीरे वढ रही है।

यद्यपि उसकी अधिकांश वातो से मैं असहमत थी; फिर भी शायद इसीलिए प्रवेश मुझे पसन्द था कि उसे अपने देश के भविष्य के प्रति चिन्ता थी और इस विषय में वह विचार करता था। जमशेदपुर के इस्पात के कारखाने में वह

मज़दूर रह चुका था। भारत के लिए यह बात अजीब थी, क्योंकि वहाँ अधिकांश छात्र शारीरिक श्रम से बचते हैं।

यद्यपि मेरे समय में शान्तिनिकेतन में अधिकांश छात्र बँगाली थे, तथापि वहाँ भारत के लगभग सभी भागों के ग़ैर-बँगाली थे। इसके अलावा कई छात्र लंका, नेपाल, बर्मा, चीन, इण्डोनेशिया, जर्मनी, तुर्की, इराक, मिस्र और केनिया (अफ्रीका) के भी थे। अधिकांश विदेशी छात्र उत्तर-स्नातक कक्षाओं के थे या अनुसन्धान-विभाग के और हम कालेजवालों की उनसे भेंट बहुत कम होती थी।

अफ्रीका के केनिया का छात्र टामस ओकेलो कालेज में पढ़ता था और मैं उसे बख़ूबी जान गयी। लम्बा और हृष्ट-पुष्ट युवक था वह। चेहरा आकर्षक और वाणी कोमल तथा मधुर। उसने अपने देश के विषय में मुझे कुछ जानकारी करायी। वह जानकारी इतनी काफी थी कि मैं उस दिन के लिए अधीर हो गयी जब कि मुझे उसके देश जाने का अवसर मिलेगा।

मेरा ख़याल है कि विजया, नलिनी, मनजीत, दीपाली, सुबोध, मिष्टुनी, प्रवेश और ओकेलो मेरे सबसे घनिष्ठ मित्र थे। परन्तु शान्तिनिकेतन में और भी कई लोग थे, जिनके काफी निकट मैं आयी और अब उनसे मीलों दूर बैठकर, मैं उन सबको अक्सर याद किया करती हूँ।

चौदह

कक्षा के बाहर

अपने मित्रों के साथ शान्तिनिकेतन के जीवन में परिश्रम-ही-परिश्रम हो और आनन्द न हो ऐसी बात नहीं। वास्तव में मेरा और मेरे साथ के लड़के-लड़कियों का बहुत-सा समय मिल-जुल कर आनन्द मनाने में बीतता था। लगभग प्रतिदिन रात को नाटक, संगीत और नृत्य, विद्वानों के भाषण या स्नेह-सम्मेलन जैसा कोई-न-कोई आयोजन हुआ करता था। कभी-कभी पिकनिक हो जाती थी।

में सभी भवनों की छात्रा थी, इसलिए मेरे साथ की लड़कियाँ मुझसे हर भवन के समारोह में भाग लेने का आग्रह करती थीं। अतः आयोजन चाहे वक्तृता के हो चाहे मनोरंजन कार्यक्रम के, चाहे कला के छात्रों के लिए हो, चाहे संगीत के या कालेज के छात्रों के लिए, मैं सबमें शामिल रहती थी।

महीने में कम-से-कम दो-तीन बार पिकनिक हुआ करती थीं। पिकनिक दिन भर की भी होती थी और चाँदनी रातों में भी; अपराह्न में चाय पार्टी होती और सुबह तड़के भी। सबसे बड़ी और बढ़िया पिकनिक का आयोजन एक रोज़ सितम्बर में कालेज और फैकल्टी के छात्रों के लिए हुआ था। बड़ी गर्मी थी उस दिन।

हम लगभग सौ विद्यार्थी सुबह नाश्ता करके शान्तिनिकेतन के पास से गुज़रनेवाली कच्ची सड़क पर चल पड़े। यह सड़क बोलपुर से गोलपुर के गाँव तक जाती थी। हमें गोलपुर जाना था। सड़क पिछली बरसात में जीर्ण हो चुकी थी। चूं-चर्र, चूं-चर्र करती हुई बैलगाड़ियों को, जो हमारे पास से निकलीं, चलने में कठिनाई हो रही थी। सड़क के दोनों तरफ़ दूर-दूर तक धान के हरे-हरे खेत बिछे हुए थे, जिनके बीच में कहीं-कहीं ताड़ के पेड़ या दो-एक छोटे-छोटे गाँव दीखते थे।

गोलपुर एक छोटा-सा बंगाली कस्बा है—स्वच्छ और सुन्दर। हमने अपनी पिकनिक के लिए स्थल उसकी सीमा पर ही चुना था। एक कुंज में हमने डेरा डाला। पास ही एक छिछली और गन्दी-सी खाड़ी थी। मवेशी उसमें पानी पी रहे थे और भैंसें व गाँव के लड़के उसमें नहा रहे थे।

पहले भोजन बनानेवालों की व्यवस्था हुई। भरे-पूरे रसोईघर में भी भारतीय ढंग का खाना पकाना कोई सहज काम नहीं है; लेकिन हमारे "पाक-शास्त्रियों" ने बढ़िया-से-बढ़िया भोजन तैयार करने का फैसला किया था। एक छायादार जगह में आलू और प्याज़ के ढेर लगा दिये गये थे। कुछ लड़कियाँ उन्हें छीलने बैठीं। कुछ ने चावल धोये और मांस व दाल तैयार करने लगीं। लड़कों ने आग सुलगायी। खाने का सामान और बर्तन स्कूल के रसोईघर से एक बैलगाड़ी में आये थे। उसी गाड़ी में कुछ लड़के कुएँ से पानी लाने गाँव गये।

एक तरफ़ ये तैयारियाँ हो रही थीं, दूसरी तरफ़ कुछ लड़के-लड़कियाँ दल बना कर गाने-बजाने और खेल-कूद में लगे। मैं जब तक अपने हिस्से के प्याज़

छील कर निपटी तव तक रिंगटास, क्रिकेट और गाना-वजाना आदि जोर पकड़ चुके थे। एक दल ताग खेल रहा था। कुछ लड़कियाँ नाच-गा रही थी। एक तरफ कुछ लड़के-लड़कियाँ गा रही थी और कुछ लड़के-लडकियाँ उनके गाने का आनन्द ले रही थीं। और कुछ लड़के खाड़ी में तैर रहे थे।

एक लड़की ने जव आखिर पीतल के वड़े-से वर्तन पर कलछी वजा-वजाकर खाना पक जाने की सूचना दी, तव हम सवको जोर की भूख लग गयी थी। हम पंक्तियों में घास पर पालथी मार कर वैठ गये। सवके सामने वड़ी-वडी पत्तलें रखी थी और तुरन्त ही उन पर गरम-गरम चावल, दाल, प्याज और यालू परोस दिये गये। सामिप-भोजियो को माँस भी परोसा गया। फिर आयी वँगला मिठाई—"मिष्टी।" खाने के वाद हमने पत्तलें उठा कर फेंक दीं। कौए और वैल उन पर टूट पड़े। हम आराम करने लगे।

अपराह्न में कुछ लड़को ने वही एक हास्य का कार्यक्रम पेश कर डाला—जिसमें नाच, गान, भापण और अभिनय सभी कुछ था। हुआ तो सव कुछ वँगला में, लेकिन उसमें इतनी वेसिर-पैर की वाते थी कि वंगालियों और गैर-वंगालियो सभी को उसमें वहुत मजा आया। दोपहर का ज्यादा वक्त इसी में वीता।

दिन की आखिरी घड़ियो में फिर रिंगटास और क्रिकेट हुई। लौटने से जरा देर पहले जव सूर्य पश्चिम को रोशन करने के लिए जा रहा था, हमने चाय पी और गाते-वजाते, खुशी-खुशी हम लोगों का जुलूस स्कूल को लौटा। आयोजन हमारे स्कूल के गीत—"आमदेर शान्तिनिकेतन" (हमारा शान्ति-निकेतन) के गायन से समाप्त हुआ। शान्तिनिकेतन में पिकनिको से ज्यादा समारोह होते थे। समारोह में कुछ भी हो सकता था—नाटक, कोई संस्कार या संगीत या नृत्य। मुझे जो समारोह सव से अधिक पसन्द आया, वह था लोक-नृत्यो और लोक-गीतो का।

जिस भवन में संगीत की सभाएँ लगा करती थीं उसके वीच में एक आँगन है। इमारत की एक वाजू पूरी-की-पूरी आँगन की तरफ खुली है। यह हिस्सा वड़ा भारी रंगमंच वन जाता है और आँगन में दर्शक वैठते हैं। तारों भरे खुले आकाश के नीचे घास पर हम वैठे। गर्मी की रात थी इसलिए ठंडी-ठंडी हवा वड़ी सुहावनी लग रही थी।

कार्यक्रम में अधिकतर लोक-नृत्य प्रस्तुत किये गये। इनमें भी अधिकांश डडियों के नाच थे, जिसमें वीस या वीस से ज्यादा लड़के-लड़कियाँ भाग लेते हैं। लडकियो ने लाल, पीली और नीली रेशमी साड़ियाँ स्कर्ट की तरह बाँध रखी थी, हल्के रंगो की चोलियाँ पहन रखी थी, कधो पर शाल पड़ी थी। उनके काले-काले चमकदार वालो में वड़े-वड़े लाल और पीले फूल शोभा पा रहे थे। गलो में सुन्दर-सुन्दर फूलों के हार पड़े थे। वीच-वीच में लड़के भी थे, जो सादे और सफेद वस्त्र पहने थे। सिर पर वे नारंगी रग के साफ़े बाँधे थे और उसी रग के कमरवन्द लपेटे थे

हर नर्तकी और नर्तकी के पास दो-दो डडियाँ थी। संगीत की ताल पर वे या तो अपनी ही डडियो को एक-दूसरे पर मारते थे या आपस में एक-दूसरे की डडियो पर। आरम्भ में तो नाच की गति धीमी थी—लेकिन अन्त तक वहुत द्रुत तथा उत्तेजनापूर्ण हो गयी। डडियो के नाच के भी कई रूप थे। एक कुछ-कुछ हमारे, एक अमरीकी नृत्य जैसा था जिसमें लड़के कतार बना कर एक ओर घूम जाते थे और लड़कियाँ दूसरी ओर; और उनकी क़तारें आपस में एक-दूसरे को वीच-वीच में काटती हुई गुज़रती थी।

एक आर्केस्ट्रा का भी कार्यक्रम हुआ जिसमें पश्चिमी भारत के पहाड़ी लोगो की एक धुन वजायी गयी। भारतीय शास्त्रीय-सगीत में विभिन्न साजो की सगत नही होती, लेकिन यह धुन कई साज़ो की सगत में उपस्थित की गयी थी। एक सितार था, दो इसराज थे, हार्मोनियम था, वाँसुरी थी, तवला था और ढोलक भी थी।

एक रात को स्नातकोत्तर और अ-भारतीय छात्रो का स्नेह-सम्मेलन हुआ। आस्ट्रेलिया के सिवा सभी महाद्वीपो के छात्र उसमें उपस्थित थे और संसार का कोई भी कोना सभवतः ही छूटा होगा, जिसके गीत तथा कविता हमें उस दिन सुनने को नही मिली।

सव से पहले दर्शनशास्त्र की एक स्नातकोत्तर वँगाली छात्रा का शास्त्रीय वँगला गायन हुआ। गीत उसने मृदु स्वर में गाया परन्तु शब्द पूर्ण स्पष्ट थे। फिर अफ्रीकी लोक-गीतो की वारी आयी। ये गीत हमें ओकेलो ने सुनाये, जो केनिया का था और कालेज में पढता था। उसके गीतो में वड़ी कोमलता थी, माधुर्य और जीवन था। ये गीत उसने अपने कवीले की भाषा, "लुओ" में गाये।

तुर्की के एक छात्र—गुवान ने एक तुर्की गीत गाया। वाली के एक लम्बे खूबसूरत स्नातकोत्तर विद्यार्थी, मन्त्र ने एक इडोनेशियाई गाना सुनाया। फिर कुछ और भारतीय गीत हुए। फ्रांसीसी, जर्मन, सस्कृत और बँगला कविताओं के पाठ के वाद अन्त में एक अमरीकी छात्र ने गिटार पर एक बँगला गीत गाया। उसके भारतीय मित्रो ने उसमें वडा रस लिया।

सात अगस्त को टैगोर का जन्मदिवस वडी गम्भीरता से मनाया जाता है और उस दिन शान्तिनिकेतन में अतिथियो की भीड़ लग जाती है। छः अगस्त को रात के भोजन के वाद वहुत रात गये तक कलाभवन की लड़कियाँ छोटे-छोटे सफेद और पीले फूलो के, जो वे दिन में ही चुन लायी थी, हार गूँथती रही।

समारोहो के लिए सजावट करने का काम हमेशा ही कला के छात्रो को दिया जाता है। इस काम मे उन्हे वहुत आनन्द आता था और मुझे उनकी सहायता करने में।

हम छः-सात लडकियाँ किसी लड़की के कमरे में फर्श पर और विस्तर पर वैठ जाती। काम भी होता जाता और साथ-साथ गाना और वाते भी। कभी हम फूल उठाकर अपने वालो में खोस लेती और कभी हारों को अपने गले में डाल कर देखती।

शान्तिनिकेतन के चन्द्रालोकित प्रागण में हमारी प्रभात-फेरी ने साढ़े चार वजे प्रस्थान किया। टैगोर-रचित एक गीत-मालिका को हम लोग गुनगुनाते चल रहे थे और उधर निद्रालस प्राची में तद्रिल सूर्य निकल रहा था। प्रत्येक पूर्णिमा की ज्योत्स्नापूर्ण रात्रि मे ऐसी सगीत-मंडली का आयोजन होता था।

तत्पश्चात् दिन के समय मदिर में संवत्सरी की पूजा हुई। तीसरे पहर वृक्षारोपण का आयोजन हुआ, जिसमें अतिथियों की उपस्थिति असाधारण थी। शान्तिनिकेतन का इस प्रकार जनाकीर्ण तथा कोलाहलपूर्ण हो जाना अप्राकृतिक था।

सुनिश्चित समय पर मेरे होस्टल की सहेलियो और सहपाठिनियो की एक लम्वी क़तार निकली और जुलूस वना कर भीड के वीचो-वीच उस सुरक्षित स्थान पर जा पहुँची, जहाँ पौधे लगाने का संस्कार होने वाला था। ये लड़कियाँ चटकीले पीले रंग की साड़ियाँ और सफेद व्लाउज़ पहने थीं। सवके हाथ में

छोटे-छोटे पौधे या फूलों के गुच्छे थे।

इस जगह के बीचो-बीच कला के छात्रो ने अल्पना (रंगोली) बनायी थी। अल्पना सुन्दर रेखाकृतियों का चित्र होता है, जो पक्के फर्श पर चावल के आटे और पानी के रंगों से बनाया जाता है। अधिकतर वह श्वेत रंग का होता है किन्तु हमारी अल्पना में लाल और पीले रग भी थे।

पूजा-सस्कार बँगला में कराया गया इसलिए उसे पूरा तो मैं नही समझ सकी। परन्तु जितना कुछ भी समझी उसकी सरलता बडी आकर्पक और सुन्दर लगी।

भारत के सबसे बड़े नगर कलकत्ते में, जो शान्तिनिकेतन के पास ही है—मैंने जो चार दिन छुट्टी मनायी वह इस शान्त और गम्भीर जीवन से सर्वथा भिन्न थी। जनवरी के अन्त में छुट्टी हुआ करती थी। उसमें मैंने और एक अमरीकी लड़की ने कलकत्ते जाने का निश्चय किया। वह लडकी एंटिओक कालेज की छात्रा थी और कुछ हफ्तो के लिए शान्तिनिकेतन आयी थी।

शान्तिनिकेतन में जीवन अविश्वसनीय सरल है। ज्योही हम उसके द्वार से बाहर निकली, कई कठिनाइयाँ खडी हो गयी। लेकिन इनका मुकाबिला करना, बाहर निकल कर दुनिया देखना भी अच्छा लगा।

हमें बोलपुर से रेलगाडी में सवार होना था। लेकिन स्कूल से स्टेशन कैसे पहुँचें? एक रिक्शावाले ने हमें होस्टल के बाहर अपने बिस्तर और सूटकेस उठाये देख लिया था। अपनी तीन पहियो की साइकिल लिए वह हमारे इन्तज़ार में तैयार खड़ा था।

हम दोनो ने प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो रिक्शा मनुष्य खींचते हैं, उनका हम कभी उपयोग नही करेंगे। किसी भी मनुष्य से बोझा ढोनेवाले पशु का काम नही लेंगे। लेकिन उस समय कोई चारा न था। समय तो काफी था किन्तु रास्ता लम्बा था और सामान भारी।

मेहनती और हिन्दी-भाषी बिहारी रिक्शावाले के लिए हमारे भाडे का मतलब था—शाम के समय परिवार के लिए कुछ अधिक भोजन की व्यवस्था। हम सामान के साथ रिक्शा में सवार हो गयी।

एक बजा था। दोपहर तप रही थी। धूल भरा रास्ता तय करते हुए जो

थोड़े-से लोग पक्की धूलभरी सड़क पर हमें दिखायी दिये वे सब आराम कर रहे थे।

कुछ ही देर में हम बोलपुर के छोटे-से भीड़-भाड़वाले स्टेशन पर पहुँच गये। रिक्शावाले को भाड़ा दिया बड़ी मेहनत की कमाई थी उसकी—और कलकत्ते के तीसरे दर्जे के टिकट खरीद कर हम चाय और मिठाई की दुकान पर बैठ कर गाड़ी की राह देखने लगी।

भारत में रेलगाड़ियो में बहुत ज्यादा लोग, खास कर विद्यार्थी, तीसरे दर्जे में ही यात्रा करते हैं। कलकत्ते की सौ मील की यात्रा के लिए हमें तीन रुपये या साठ सेंट से भी कुछ कम खर्च करना पड़ा।

लगभग एक घण्टे में गाड़ी उदास और धुआँ उड़ाती हुई आ गयी मानो उत्तर के पहाड़ी इलाके के सफर से थक गयी हो। हम एक डिब्बे मे सवार हुए जो पहले से ही खूब भरा हुआ था। उसमें सोलह मुसाफ़िरों के बैठने की जगह थी; लेकिन बैठनेवालो की संख्या उससे कही अधिक थी। उनमें विद्यार्थी थे, व्यापारी थे, बच्चे और औरतें थी, और एक सिपाही भी था। वहाँ से चल कर गाड़ी रुकती है सिर्फ वर्दवान में। यहाँ चोरी-चोरी चावल ले जानेवाले कुछ लोग हमारे डिब्बे में सवार हुए। वे डरे हुए थे।

पुलिस उनकी तलाश में थी। उनका हमारे डिब्बे में आना किसी को अच्छा नहीं लगा। वे शहर को चावल ले जा रहे थे, जहाँ उसे ऊँचे भाव पर बेचेंगे। कलकत्ते पहुँचते-पहुँचते गाड़ी जैसे ही धीमी हुई, वे कूद पड़े और लोगो की नजर बचाकर ग़ायब हो गये।

मेरी सहेली ज़रा बातूनी थी इसलिए हम संसार की समस्याओ पर चर्चा करने लगीं। कलकत्ते के तीन विद्यार्थी, जो दिन भर के लिए शान्तिनिकेतन गये थे, इस चर्चा में शामिल थे। उनमें एक लड़का पंजाब का था और क़ानून पढ़ रहा था। बाकी दोनों डाक्टरी पढ रहे थे। इनमें भी एक पंजाबी था और क़ानून के छात्र जैसा ही लम्बा और गोरा था। उस तरफ के लोग अक्सर ऐसे ही होते है। तीसरा छात्र नेपाल का था। क़द उसका दोनों से छोटा था लेकिन रंग ज्यादा साफ था।

अंधेरा पड़ने ही लगा था कि दूर कलकत्ते की जगमगाती हुई बत्तियाँ दिखायी देने लगी और हम हुगली नदी का पुल पार करके सियालदा पहुँच गये।

भारत का विभाजन हुए तो पाँच वर्ष बीत गये थे फिर भी पूर्वी पाकिस्तान में साम्प्रदायिक संघर्ष जारी था और उस समय हिन्दू विस्थापित बहुत बड़ी संख्या में पश्चिम बंगाल चले आ रहे थे। भारत पहुँचने पर उनमें से बहुतो के लिए पहले सियालदा स्टेशन ही घर का काम देता था। अपने परिवारों को लिये हुए वे तबतक वही फर्श पर पडे रहते थे, जबतक कि सरकार उन्हें शरणार्थी शिविरो या बस्तियो में जगह नही दे देती थी। हम उनके बीच से गुजरते हुए रात की ठडक में स्टेशन के बाहर आये।

मैं हैरान रह गयी। मुझे लगा जैसे हम न्यूयार्क पहुँच गये हो। गाड़ियाँ, बसें और टैक्सियाँ पों-पो करती हुई भागी जा रही थी, और निओन बत्तियों के साइन-बोर्ड जगमगा रहे थे। बड़ी सड़कों पर शानदार चायघरो और भोजनगृहों की कतारें लगी थी। इस नगर की विशालता ने मेरी ज़बान में ताला डाल दिया। शान्त और सरल शान्तिनिकेतन एक दूर की चीज़ लगने लगा।

उन तीन छात्रो को वक्त काटने के अलावा कुछ करना नही था सो, वे एक टैक्सी करके हमें साल्वेशन आर्मी के होस्टल तक छोड़ने आये। हमने सुना था कि यहाँ रहने और खाने का इन्तज़ाम सस्ते में हो जाता है। व्यवस्था थी भी सस्ती—खाने और रहने के सिर्फ तीन रुपये रोज़। कुछ बूढी एँग्लो-इन्डियन औरतें, कुछ नौकरी-पेशा एँग्लो-इन्डियन और चीनी औरते वहाँ रहती थी। मेरी सहेली जिस कमरे में ठहरी उसमें एक पंजाबी मास्टरनी और एक भारतीय नर्स रहती थी। मेरे कमरे में सिर्फ एक औरत थी। एँग्लो-इन्डियन, बूढी और गरीब।

होस्टल में ठहरनेवाली एँग्लो-इन्डियन औरतों को—उन अधिकाश एँग्लो-इन्डियनो की तरह, जिनसे मैं दिल्ली में मिल चुकी थी—अपने अंग्रेज़ीपन पर अजीब घमड था और अंग्रेज बनने के लिए वे अपनी शक्तिभर सभी कुछ किया करती थी। अगर वे भारतीय कपड़े पहनती तो भारतीय ही लगती और भारतीय समाज उनका स्वागत करता, लेकिन लगता था कि यह उन्हे पसन्द नही है। वे ज्यादातर पश्चिमी ढग के कपडे पहनती थी, और बात करती थी—सिर्फ अंग्रेज़ी में। नये भारत का अग बनने में उन्हे संकोच होता था।

वे तीनो छात्र यह वादा करके लौट गये कि वे लौटकर हमें शाम का

भोजन कराने ले जायेंगे। कुछ देर मे वे आ गये और हमें खाना खाने बड़े ठाठ की जगह ले गये। मैं सादे सूती कपड़े और घिसे-घिसाये जूते पहने थी, जिससे मुझे उस जगह प्रवेश करने मे ज़रा लज्जा का अनुभव हुआ। यह भोजन-गृह शिकागो के शानदार कालीनों से ढँके फ़र्शवाले आधुनिक भोजन-गृहों से भिन्न था तो केवल इस बात मे कि इसके वेटर साफ़े बाँधे हुए थे और खाने की कुछ चीज़ें और ढंग की थीं।

हमारा छोटा-सा तिमंजिला होस्टल कलकत्ते की एक बड़ी भीड़-भाड वाली सड़क पर था। दिन में हमारी खिड़कियो के नीचे, पैदल चलने की पटरियों पर मर्दों और औरतों की भीड़ लगी रहती थी। लोग या तो चिल्ला-चिल्लाकर छोटी-छोटी दुकानो पर मोल-भाव किया करते थे या जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाते हुए और अपने साथियो के साथ शान्ति से दुनिया की हालत पर चर्चा करते हुए अपने काम पर जाते थे।

छोटी-छोटी अंधेरी दुकानों में सुई और कपड़े से लेकर खाना बनाने के बर्तन—सभी कुछ मिलता था। पटरियो पर खुले हुए खोन्चे लगा कर कुछ लोग खाने की तली हुई स्वादिष्ट चीज़े, बंगाली मिठाइयाँ, फल और मलाई की बर्फ बेचा करते थे।

कभी-कभी कोई बैलगाड़ी अपनी धीमी चाल से गुज़र जाती थी। भारी भीड़ में अपना रास्ता बनाने के लिए घंटियाँ बजाती हुई खड़खड़ करती गाड़ियाँ आती-जाती रहती थीं। थके-हारे रिक्शावाले, मुसाफ़िरों की टोह मे इधर-उधर निगाह दौड़ाते हुए धीमे-धीमे अपनी साइकिलें चलाते जाते थे। मोटरों को हमेशा जल्दी रहती थी और उनके हार्न बन्द नही होते थे।

यहाँ, शान्त शान्तिनिकेतन से कितनी भिन्नता थी। यद्यपि मुझे शान्तिनिकेतन के मन्द गति और नीरव जीवन की याद आती थी; फिर भी जो थोड़े-से दिन कलकत्ते में बीते, जहाँ ज्यादातर लोग शहरी लोगो की तरह जल्दी मे ही रहते हैं, उनसे एक तरह से ताजगी ही मिली।

नहीं; यह बात नही है कि शान्तिनिकेतन के जीवन में परिश्रम-ही-परिश्रम हो। आनंद भी उतना ही है। मुझे खूब याद है कि १९५३ की फरवरी के अन्त मे जिस दिन मैं अपने साथियों और सहेलियों से विदा लेकर दिल्ली को रवाना

हुई, मुझे कितना दुःख हो रहा था।

मुझे तब मालूम हुआ कि मुझे शान्तिनिकेतन के अपने आनन्द-भरे दिन तो याद आयेंगे ही, परन्तु रोजमर्रा की छोटी-छोटी बातें, क्लास में जाना, पुस्तकालय की शान्ति में किसी किताब की अलमारी के पीछे छिप कर पढना, सीमेंट के स्नानागार में बाल्टी में कपड़े धोना और कपड़ो को धूप में सूखने डालना भी याद आयेगा। बराबर नगे पैर घूमने की स्वतन्त्रता की अजीब-सी अनुभूति भी याद आयेगी—लड़कियो की हँसी-खुशी, उनकी सद्‌भावना और शायद उनका शोर-गुल भी।

पन्द्रह

प्रगति-पथ के गाँव

फरवरी के अन्त में शान्तिनिकेतन से मैं अपने घर दिल्ली को लौटी।

स्टेव, चेट, सैली और सैम स्वदेश जाने के लिए मार्च में भारत से रवाना होने वाले थे। मेरी बडी इच्छा थी कि अभी कुछ महीने और भारत में रहकर घूमूँ-फिरूँ तथा गाँवो के जीवन की और जानकारी हासिल करूँ। मेरे माता-पिता ने मुझे इसकी इजाजत दे दी।

मुझे जुलाई में भारत छोडना था। इस तरह मेरे परिवार के प्रस्थान के बाद मुझे तीन महीने से ज्यादा समय मिला। इस अवधि के लिए मुझे मित्रो से अनेक हार्दिक आमत्रण मिल चुके थे। दिल्ली में भी यूनाइटेड स्टेट्स इन्फ़र्मेशन सर्विस में हमारी एक अमरीकी मित्र—जीन जायस् काम करती थी। उन्होंने और दिल्ली राज्य की स्वास्थ्य-मंत्रिणी डा० सुशीला नायर ने, जो स्टेव की मित्र थी, मेरी देखभाल की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

मार्च १९५३ के अन्त से ज़रा पहले, उत्तर भारत का गर्मी का मौसम शुरू होने के बाद ही मेरा परिवार दिल्ली से रवाना हो गया। प्रशान्त सागर के पार, दूर स्वदेश की यात्रा के लिए उन्हें विदा देने को बहुत-से लोग हवाई-स्थल पर आये थे। जहाज घरघराता हुआ जमीन से उठा और आकाश की

ऊँचाइयो को छूता हुआ दूर, बहुत दूर उड़ता चला गया। जब तक वह दृष्टि से ओझल नही हो गया तब तक हमारी आँखें उस पर गड़ी रही।

मैं अकेली रह गयी। लेकिन मित्रों का साथ था और मैं ऐसे देश में थी, जो संसार के अन्यतम मैत्रीपूर्ण देशों में से है। मै बहुत खुश थी कि मुझे इस देश में, और उन लोगों के साथ, जिन्हे मै इतना प्यार करने लगी थी, रहने का यह मौका मिला। यह तीन महीने का समय मेरे लिए प्रवास का आनन्दमय समय रहा। मुझे कई भारतीय परिवारों के बीच रहना था—ऐसे परिवारों के बीच जिनका आर्थिक स्तर और धर्म जुदा-जुदा था।

कुछ दिन मुझे पुरानी दिल्ली में अपनी "अस्थाई अभिभावक" सुशीला नायर और उनके परिवार के साथ रहना था। सुशीला बहन गांधीजी की निकटतम शिष्या हैं और बहुत समय तक उनके साथ सेवाग्राम में रह चुकी हैं। भारत के प्रमुख चिकित्सकों में उनकी गिनती है और कई वर्षों तक वे गांधीजी की निजी चिकित्सक भी रह चुकी हैं। मंत्रिणी बनने से पहले कुछ समय के लिए वे दिल्ली के पास एक बड़ी विस्थापित बस्ती में प्रमुख चिकित्सा-अधिकारी रही थीं।

नयी भारतीय-सरकार के अधिकांश अधिकारियो की तरह सुशीला बहन ने भी विदेश में शिक्षा पायी थी। लगभग दो वर्ष अमरीका मे रह कर उन्होंने जॉन्स हापिकन्स विश्वविद्यालय से जन-स्वास्थ्य की मास्टर और डाक्टर की उपाधियाँ पायी थीं।

सुशीला बहन दिन में बहुत व्यस्त रहती थी; इसलिए उनके साथ रहने के दिनो में, मैं अपना ज्यादा वक्त अपनी सखी-सहेलियो से मिलने-जुलने, नयी दिल्ली में दवाखाने में काम करने तथा बाजार मे दुकानो की सजावट देखने में बिताती थी। काम बहुत था और परिवार की याद करने को मेरे पास समय ही नही था। सुशीला बहन ने ममतामयी माँ की तरह मुझे रखा। १७, रैटेन्डन रोड का शकूर भी मेरा बहुत ध्यान रखता था। दवाखाने का काम पूरा करके मैं करीब-करीब रोज उसमें और उसके अहाते में रहनेवाले दूसरे लोगों से मिलने जाती थी।

मार्च खत्म होने तक मै सुशीला बहन के साथ रही। अब मुझे उत्तर प्रदेश के छोटे-से कस्बे में अमरीकी मिशनरी दम्पति श्री वाइजर और उनकी पत्नी

के यहाँ जाना था।

शान्तिनिकेतन से लौट कर मैंने अपनी एक अमरीकी दोस्त से इसकी चर्चा की थी। गाँवो के प्रति मेरा आकर्षण देख कर उन्होंने मुझे सलाह दी कि मैं कुछ समय वाइज़र दम्पति और उनके सहयोगियों के साथ रहूँ, जो भारतीय ग्राम-सेवा का संचालन करते हैं।

मेरी मित्र ने मुझसे कहा—"वाइज़र-दम्पति दिल्ली से कोई सौ मील दक्षिण-पूर्व, उत्तर प्रदेश के एक छोटे-से कस्बे मढेरा में रहते हैं। तुम्हें अपने यहाँ रखने में उन्हे बड़ी ख़ुशी होगी।" उसने बताया कि मार्च के आख़िर में वह ख़ुद मढ़ेरा जानेवाली है और मुझे अपने साथ ले जायगी। उसने कहा, "इसके अलावा उनका एक साथी लखनऊ के पास एक गाँव में अकेला काम कर रहा है। उसे सप्ताह भर के लिए कोई साथी और सहायक मिलने से हर्ष होगा। तुम मढेरा से वहाँ चली जाना।"

मैंने इस आमन्त्रण को उत्सुकता से स्वीकार कर लिया था। क्योंकि अपने गाँवों के विकास के लिए भारत तेज़ी से जो प्रयत्न कर रहा है, उसका कुछ भाग मुझे मढेरा में और लखनऊ के पास उस दूसरे गाँव में अपनी आँखो से देखने को मिला। भारतीय ग्राम-सेवा ग़ैर-सरकारी संस्था है; लेकिन वह काम वैसा ही कर रही है, जैसा सारे देश में सरकारी और दूसरे गैर-सरकारी दल कर रहे हैं।

सब बातें हमारी योजना के मुताबिक होती गयी। कुछ ही घण्टो में हम मोटर से मढेरा पहुँच गये। रास्ते के अधिक भाग में दोनो ओर उत्तर प्रदेश के पश्चिमी मैदान के नाज और दालो के हरे-हरे खेत गर्व से लहलहा रहे थे। कटाई शुरू हो चुकी थी इसलिए कुछ खेत खाली पडे थे। हर जगह गाँवो के लोग फसल काटने और नाज साफ करने में लगे थे।

श्रीमती वाइज़र ने तपाक से हमारा स्वागत किया। उन्होंने और श्री वाइज़र ने मुझसे कहा कि इसे अपना ही घर समझो और जो चाहो, करो।

मढेरा उत्तर भारत के कस्बो जैसा ही है, जिसे न बड़ा गाँव कहा जा सकता है, न छोटा शहर। वह दोनो के बीच की बस्ती है। १९४७ में भारत का विभाजन होने से पहले यहाँ ज़्यादातर बस्ती मुसलमानो की थी; लेकिन विभाजन के समय अधिकांश मुसलमान डर कर पाकिस्तान भाग गये। उस वक्त हिन्दुओं

और मुसलमानों को एक दूसरे के विरुद्ध भड़काया जा रहा था और एक अजीब पागलपन के आलम में हिन्दू अपने मुसलमान पड़ोसियों और मुसलमान अपने हिन्दू दोस्तों को मौत के घाट उतार रहे थे।

मुसलमानों को डर अपनी जान का ही नहीं था, वे अपने भवितव्य के लिए भी भयभीत थे, किन्तु यह भय आगे चल कर गलत निकला। बहुतों को डर था कि भारत ऐसा राज्य बन जायगा जिसमें हिन्दुओं का जोर रहेगा और दूसरे धर्मों के लोगों के साथ अन्याय होगा।

मुझे मालूम हुआ कि वास्तव में मढ़ेरा में और उसके आस-पास कोई दंगा-फ़साद नहीं हुआ। लेकिन जैसा पाकिस्तान में हुआ, उसी प्रकार अधिकांश उत्तर भारत में हज़ारों लोग मारे गये। आज आश्चर्यजनक रूप से हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख भारत में मिल-जुल कर और अधिकांश में, शान्ति के साथ रहते हैं। इस आश्चर्य का बहुत कुछ श्रेय प्रधान मंत्री नेहरू को मिलता है, जिन्होंने सभी धर्मावलम्बियों में मेल-जोल पैदा करने के लिए अथक परिश्रम किया है। आज भारत के साढ़े चार करोड़ मुसलमान श्री नेहरू के अन्यतम समर्थकों में से हैं।

मढ़ेरा की गलियों में ईंट के जर्जर मकानों के ऊँचे-ऊँचे मेहराबदार दरवाजे उन दिनों की कहानी सुनाते हैं, जब कम-से-कम एक वर्ग के लोग तो खुशहाल थे ही। श्रीमती वाइज़र की पहचान की एक स्त्री ने, जो मढ़ेरा की ही थी, मुझे बताया कि उसके बचपन में एक ऐसा जमाना था, जब उच्च वर्ग की स्त्रियाँ अपने आँगन से बाहर की ज़मीन पर कदम नहीं रखती थीं। जहाँ भी उन्हें जाना होता, चार कहार उन्हें अच्छी तरह पर्दों से ढंकी हुई पालकियों में बिठा कर ले जाते थे।

ज्यादातर लोगों के चले जाने से मढ़ेरा उजाड़ हो गया है। ईंटों से पटी हुई तंग गलियाँ ज्यादा वक्त सुनसान रहती हैं। सुबह कुछ बच्चे स्कूल को और मर्द काम पर चले जाते हुए दिखाई देते हैं। और सुबह-शाम अज़ान होने पर कुछ मर्द नमाज़ के लिए मसजिद में जाते हुए दिखाई देते हैं। मकानों के दरवाजों पर खुश और मुस्कराता हुआ चेहरा शायद ही कभी दिखायी देता है। इन ईंट की बनी इमारतों से कस्बे में वीरानेपन और बर्बादी की छाया पड़ गयी है।

हाट का दिन ज़रूर अलग होता है। हर गुरुवार को दस्तकार, किसान और ख़रीदार मीलों दूर से आकर कस्बे के बाहर ही जमा होते हैं। ख़रीद-फरोख़्त के बाद वे तुरन्त ही अपने घरों को नहीं लौटते। कुछ देर दोस्तों के साथ मिल-बैठ कर हँसने-बोलने का उन्हें यह अच्छा मौका मिलता है।

वाइज़र दम्पति मुसलमानों के एक पुराने मकान में रहते थे। उसमें पीछे की तरफ आँगन था जो तीन तरफ कमरे से घिरा हुआ था और चौथी तरफ पड़ोस के मकान की दीवार से। पिछली तरफ के जो दो कमरे आँगन में खुलते थे उनमें से एक मुझे मिला था। मैं आँगन में सोती थी। मकान के आगे के हिस्से में सबके उठने-बैठने का कमरा था। पोर्च, वाइज़र-दम्पति के सोने का कमरा और रसोईघर भी उसी हिस्से में था। स्नानागार एक तरफ लगा हुआ था।

मकान सादा था और वाइज़र दम्पति ने उसे वैसा ही रहने दिया था। दीवारें जर्जर ईंटों की थीं। पिछवाड़े के कमरों के फर्श कच्चे थे। सोने के लिए एक चारपाई मेरे कमरे में पड़ी थी। मैं सोचती थी कि विभाजन से पहले जब कोई मुसलमान परिवार यहाँ रहता था, तब हालत क्या रही होगी? शायद घर की औरतें अपना ज्यादा वक्त पिछवाड़े के इन दो कमरों और आँगन में ही गुजारती होंगी; क्योंकि इस इलाके की मुसलमान औरतें सख्त पर्दा करती हैं। पराये मर्द उनका मुँह न देख पायें इसके लिए वे बिना बुर्का ओढ़े घर से बाहर कदम नहीं निकालतीं। बुर्का सब कपड़ों के ऊपर ओढ़ा जाता है। सारा बदन और मुँह उससे ढँक जाता है।

पड़ोस में रहनेवाली दो मुसलमान बहनों से मेरी बड़ी जल्दी दोस्ती हो गयी। एक मेरी उम्र की थी और दूसरी ज़रा बड़ी। एक दिन मैं उनके आँगन में बैठी उनसे बातें कर रही थी कि भिश्ती का लड़का पास के कुएँ से मशक भर कर लाया। जब वह मिट्टी के घड़ों में पानी भरने लगा, उसने आँखों को ढँक लिया ताकि घर की लड़कियों और उनकी माँ पर उसकी नज़र न पड़े।

इन लड़कियों और उनके भाई को अकेलापन बड़ा अखरता था। उनके ज्यादातर दोस्त पाकिस्तान चले गये थे। घर में या बाहर ऐसी कोई चीज़ न थी जो गृहस्थी के बँधे-बँधाये कामों से परे कोई नयापन पैदा करती। मैंने लड़कियों को बताया कि मैं मढेरा के आसपास के गाँवों में काम करने जाती हूँ। मैंने उनसे कहा कि वे भी अपना कुछ वक्त इस तरह के काम में क्यों नहीं बितातीं।

मैंने इस बात पर जोर दिया कि मैं औरतों और बच्चो के बीच भी काम करती हूँ। एक शर्मायी हुई मुस्कान उनके मुख पर छायी और उन्होंने मुझे सीधा-सा उत्तर दिया कि उनके यहाँ ऐसा रिवाज नही है।

मढ़ेरा में दो स्कूल हैं—एक प्राथमिक, लडके और लडकियों के लिए; दूसरा माध्यमिक केवल लड़को के लिए। एक छोटा-सा अस्पताल भी है जिसमें सामान पूरा नही है।

एक दिन डाक्टर की पत्नी ने अपने अस्पताल के पिछवाड़े वाले मकान मे श्रीमती वाइजर को और मुझे दोपहर की चाय पर बुलाया। चाय पार्टी थी औरतों की। पोस्टमास्टर की पत्नी, स्कूल के अध्यापक की पत्नी और कस्बे की कुछ और मामूली पढ़ी-लिखी औरते उसमें आयी थी। बातचीत थी तो उर्दू में लेकिन थी वैसी ही, जैसी अमरीका में औरतो की किसी भी पार्टी में आप सुन सकते हैं—किसके यहाँ बच्चा पैदा हुआ है? किसका देहान्त हो गया है? किसकी शादी हुई है? बाजार में सब्जी के क्या भाव है? वगैरह-वगैरह।

मढ़ेरा में रह कर मैं एक भारतीय जन-स्वास्थ्य कार्यकर्त्री वायलेट के साथ आस-पास के गाँवों में काम करती थी। भारतीय ग्राम-सेवा की सात-आठ सहयोगिनियाँ थी। उन्ही में से एक वायलेट थी। हम सुबह जल्दी नाश्ता करके अपनी साइकिलों पर निकल जाती और पाँच गाँवों में से किसी एक में जाकर काम करती और एक बजे तक लौट आती।

जहाँ हमें जरूरत और कुछ सीखने की लगन दिखायी देती, वहाँ हम मदद करती। अगर किसी बच्चे की आँखे दुखती होती तो हम उसे आँखों का इलाज करना बताती। अगर कोई लड़की अपने सादे से दुपट्टे पर कढ़ाई करने की इच्छा प्रकट करती तो हम उसे और उसकी सहेलियो को काढना सिखाती। अगर गाँव में कोई व्यक्ति हाल में—मान लीजिये—मियादी बुखार से मर गया होता तो हम बतातीं कि मियादी बुखार की रोक-थाम के लिए साफ़-सफाई के क्या कदम उठाने चाहिए? इसी तरह के कई काम हम किया करती थीं।

यद्यपि भारतीय ग्राम-सेवा को अमरीका का प्रेसबिटेरियन चर्च चलाता है, लेकिन दक्षिण भारत के मिशनरी दलों की कार्यवाहियो की तरह, उसकी कार्यवाहियो का ईसाई धर्म से सम्बन्ध इतना ही है कि वे पूर्णतया ईसाई सिद्धांतों पर आधारित हैं। सहयोगी सब-के-सब ईसाई है। लेकिन ईसा की चर्चा वे गाँव

वालों द्वारा जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर ही करते हैं, या तब करते है जब कि किसी विशेष परिस्थिति को बाइबिल के किसी आख्यान से खूब अच्छी तरह समझाया जा सकता हो ।

इस संगठन का मुख्य उद्देश्य है—उनकी अपनी, और उनके गाँवो की अधिक-से-अधिक उन्नति के लिए गाँववालो की सहायता करना ।

अपने जीवन को बाइबिल के 'दस आदेशों' के साँचे में ढाल कर और ईसाई सिद्धांतों के अनुसार सहायता देकर तथा काम करके इस संगठन के सदस्य ईसाई धर्म के लिए आदर की जितनी भावना पैदा करते हैं, उतनी कोई भी मिशनरी सिर्फ़ धर्म-परिवर्तन पर जोर देकर नहीं कर सकता ।

देश भर में जिस तरह ग्राम-विस्तार के कार्यकर्त्ता काम कर रहे हैं, उसी तरह भारतीय ग्राम-सेवा के कार्यकर्त्ताओं ने भी पहले गाँववालों का विश्वास पाने के प्रयत्न किये । फिर उनके खेती के औज़ारो और तरीको में छोटे-छोटे सुधार करने के प्रयत्न किये और फिर गाँववालों की ही सहायता से सहकारी संस्थाओं, स्वास्थ्य-सेवाओं और स्कूलो की स्थापना के ये अतिम प्रयत्न तभी किये गये, जब गाँववाले इन सगठनो को सफलतापूर्वक चला सकने के लिए तैयार हो गये ।

भारतीय ग्राम-सेवा के गाँवों में बहुत प्रगति हो चुकी थी । वायलेट ने गर्व के साथ मुझे गाँवों में नये सीमेन्ट के कुएँ दिखाये, और गाँवो के बाहर एक ट्यूब वेल (नल-कूप) दिखाया—इस गहरे कुएँ में बिजली का पम्प लगा रहता है, जिसमें चार सौ एकड़ ज़मीन की सिंचाई हो सकती है । उसने मुझे गेहूँ का एक खेत भी दिखाया जिसमें साधारण बीज पुराने तरीक़े से बोया गया था । उसी से लगा हुआ था दूसरा खेत—जिसमें पौधे ज्यादा ऊँचे भी थे और वह भरा हुआ भी ज्यादा था । इसमें ग्राम कार्यकर्त्ताओं का लाया हुआ बढ़िया किस्म का बीज बोया गया था । सुधरी हुई किस्म के बीज के इस्तेमाल से इन्कार करनेवालो की संख्या अगली फसल बोने के समय तक नही के बराबर रह गयी थी ।

कार्यकर्त्ता धीरे-धीरे काम करने के लिए मजबूर थे । कटाई, दुलाई और जुताई के लिए उम्दा मशीनें नही थीं । छोटे-मोटे सुधार उन्होंने किये । बैलगाड़ी

का पहिया ज्यादा मजबूत हो और ज्यादा चले, इसके लिए उसमें फ़ौलाद का उपयोग किया गया और गाँव के लोहार को यह भाग बनाना सिखाया गया। कटाई के हँसिये का हत्था इस तरह का बनाया गया कि उससे नाज के पौधे भूमि के अधिक-से-अधिक निकट तक काटे जा सकें और काटने वाले की उँगलियाँ भी घायल न हों।

गाँव में ऐसे हल बनवाये गये थे, जो वजन में हल्के थे और धरती को ज्यादा गहराई तक खोद सकते थे। गोबर पहले ईंधन की तरह काम में लाया जाता था। अब गड्ढों में भर कर गोबर की खाद बनायी जाने लगी थी।

यों कहिए कि मेरी मित्र वायलेट तथा बाकी सहयोगियों का काम यह था कि लोगो को उनके काम करने में सहायता दें और जिन गाँवो में भी वे काम करते हो उनकी जरूरतों को पूरा करें। वायलेट के काम में हाथ बँटाना मेरे जीवन का एक अद्भुत अनुभव था।

मेरे मढेरा आने के लगभग डेढ सप्ताह बाद, अप्रैल के दूसरे सप्ताह में एक दिन श्रीमती वाइज़र ने सब से नजदीक के रेलवे स्टेशन से, जो मढ़ेरा से कोई दस मील दूर था, सुबह तड़के की गाडी में मुझे लखनऊ रवाना कर दिया। बरेली में मैंने गाड़ी बदली और संध्या पडने से पहले ही मैं लखनऊ पहुँच गयी।

नये बने हुए आधुनिक ढग के स्टेशन से ताँगा करके मैं इसाबेला थोबर्न कॉलेज गयी। लडकियो का यह ईसाई मिशनरी कॉलेज नगर के दूसरे छोर पर है। यहाँ मुझे भारतीय ग्राम-सेवा की वह सहयोगिनी मिली, जो लखनऊ के पास फ़तहपुर नामक गाँव में काम करती थी। हमने जो योजना बनायी थी, उसके मुताबिक मुझे एक हफ़्ते उसके साथ रहना था।

हम तुरन्त ही गाँव को चल दिये। गाँव दो मील दूर था। बडी सडक पर कोई एक मील चलने के बाद हम सडक से हटकर कुछ दूर तक रेल की पटरियों के सहारे-सहारे चले। फिर पेडो में होकर कुछ दूर एक पगडडी पर चलने के बाद हम फतहपुर गाँव की गली में आ पहुँचे। सामने मिट्टी के छोटे-छोटे कच्चे मकान दीख रहे थे; हरे खीरो की एक बाडी थी और दोनो ओर एक-एक ढेंकली-वाला कुआँ था। गली में एक बच्चा खेल रहा था। उसने तुरन्त सब जगह खबर कर दी कि बहनजी लौट आयी हैं। खेतो में काम करनेवाले आदमियों ने

बड़े चाव से उनका अभिवादन किया। छोटे-छोटे बच्चे उन्हें बहुत प्यार करते थे और उन्होंने उन्हें देखते ही खूब खुश होकर चिल्लाना शुरू किया कि "बहनजी आयी हैं, बहनजी आयी हैं!"

बहनजी का घर गांव के सिरे पर था; जहां कि नगर से आनेवाली गली गांव में प्रवेश करती थी। उनका घर गोबर और मिट्टी का बना हुआ था और फूस से उसे छाया गया था। गांवों में सभी घर ऐसे होते हैं। यह घर शायद कुछ छोटा था। दो छोटे-छोटे कमरे थे—एक में दो चारपाइयां पड़ी थीं—उसी में बहनजी अपनी किताबें और कपड़े रखती थीं, खाने के सामान की आलमारी भी; दूसरे खुले हुए कमरे में हम खाना बनाती और खाती थीं।

छोटी-सी बरसाती गांव के पुस्तकालय का काम देती थी। बहनजी के पास जो छोटी-छोटी किताबें और पत्रिकाएँ आती थीं, उन्हें पढ़ने के लिए गांव वाले किसी भी समय वहां आ सकते थे। बहनजी तो यही चाहती थीं कि वे उन्हें पढ़ें। बरसाती का एक कोना ईंट की एक दीवार बनाकर अलग कर दिया था। उसमें गुसलखाने का काम लिया जाता था। गांव यद्यपि शहर के बहुत पास था फिर भी उसमें बिजली नहीं थी। रात को अँधेरे में लोग मिल-जुलकर बैठते थे और बातें करते थे। कभी-कभी गाना-बजाना भी चलता था। मिट्टी का तेल महंगा था, इसलिए लोग अपनी लालटेन कम ही जलाते थे।

दूसरे दिन तड़के ही बहनजी ने अपना काम शुरू कर दिया। हम पहले ही जिन घरों में गये, उनमें से किसी में कोई औरत बीमार थी। बहनजी ने उसे अस्पताल जाने की सलाह दी, और यह समझ कर कि शायद वह अस्पताल न जाय, उसके लिए नुस्खा भी लिख दिया, जिसकी दवा उस औरत का लड़का शहर से खरीद कर ला सकता था। अगले घर में बहनजी ने एक औरत को उसके नये बच्चे के कपड़े काटने और सीने में मदद दी। एक घर में उन्होंने एक लड़की को कुछ पढ़ाया। सारे गांव में वे ऐसे ही काम करती रहीं। इस भाईचारे के सम्पर्क के कारण गांववालों को उनपर भरोसा हो गया था। अब वे जान गये थे कि वे बहनजी पर विश्वास और भरोसा कर सकते हैं और इसलिए बार-बार उनकी सलाह लेने उनके पास आते थे।

साक्षरता के लिए उन्होंने गांव में जो काम किया वह बहुत सराहनीय है। गांव में उन्होंने जिस आदमी को पहले-पहल पढ़ना सिखाया, वह अब गांव के

स्कूल में अध्यापक है और छोटे-छोटे लड़के और लड़कियों को लिखना-पढ़ना और गणित के आसान सवाल सिखाता है। बड़े लड़के लखनऊ शहर में पढ़ने जाते हैं और बड़ी लड़कियां, जिन्हें घर के काम-काज से फ़ुर्सत कम मिलती है, अपने खाली वक्त में बहनजी के पास आती हैं।

बहनजी ने इन्हें शिक्षित बनाने के लिए अनेक उपाय अपनाये थे। उनमें से एक यह भी था कि उन्होने पढ़े-लिखे गांववालों से सादी और अपनी ही बोल-चाल की भाषा में अपनी कहानियां लिखने का आग्रह किया ताकि नये पढ़ना सीखनेवाले उन्हे पढ़ सके। बहुत-से लोग पढ़ना सीख गये हैं, लेकिन उनके पास पढ़ने के लिए किताबें नही हैं। अब अगर उन्हे ऐसी किताबे न मिलें, जो सरल और आनन्ददायक हो; तो जो कुछ उन्होने सीखा है, उसे वे भूल जाएंगे।

बहनजी ने सोचा कि अगर गांव वाले अपनी ही कहानियां प्रकाशित करा सके, तो उन्हे अपनी पढ़ाई-लिखाई पर गर्व भी होगा और दूसरो को लिखना-पढ़ना सीखने के लिए बढ़ावा मिलेगा। इसके अतिरिक्त गांववालों की अपनी भाषा में उनकी पसन्द के ही विषयों की और उनकी समझ में आनेवाली बहुत-सी किताबे तैयार हो जाएंगी।

हर रोज़ बहनजी और मैं लगभग १२ बजे खाना खाने के लिए लौट आती थी। दोपहर की गर्मी में हम आराम करती थीं। उस समय अक्सर कुछ औरतें और लड़कियां बहनजी से पढ़ने या कपड़े सीने या बातें ही करने के लिए आ जाती थी। दोपहर ढल जाने पर हम फिर गांव के घरों में जाकर औरतों से बातें करती और उन्हें पढ़ाती थी। अंधेरा पड़ने पर फिर भोजन करने के लिए आ जाती थीं। इसके बाद अक्सर गांव के कुछ आदमी बहनजी का रेडियो सुनने आ जाते थे या बच्चे घर के सामने की गली में खेलने लगते थे। रात का स्कूल भी इसी समय लगता था।

गांव के कुछ लोगों की तो अपनी ज़मीन है। लेकिन अधिकांश लोग दूसरों की ज़मीन पर काम करते हैं। गांव के थोड़े-से लोग शहर में काम करने जाते हैं। जिन दिनो मैं वहां थी, तब गेहूं और दालों की फ़सल कट चुकी थी। खीरे, लौकियां, काशीफल और टमाटर की लहलहाती हुई फसल बाज़ार के लिए तैयार थी।

एक दिन मेरी एक नयी सहेली राजकुमारी ने मुझसे कढ़ाई सिखाने को कहा। हम दोनों उसके पिता के बाग़ के छोर पर सिंचाई के पानी की छोटी-सी नाली के किनारे जाकर बैठ गये। उसे बार-बार उठकर उन चिड़ियो को उड़ाना पडता था, जो पके हुए फलों को कुतरने आ जाती थी।

फतहपुर की औरतों को मैंने कढ़ाई सिखाई और उन्होंने मुझे टोकरियां बुनना। उनका यह काम इतना सुन्दर होता है जैसा कि मैंने और कही नही देखा। वे सस्ते रंग खरीद कर पुआल को हरा, पीला और लाल रंग लेती हैं। इन्हें वे सुन्दर-सुन्दर नमूने में बुनती हैं। इन टोकरियों को वे घर में भी इस्तेमाल करती हैं और शादी-विवाह पर या दूसरे समारोहों पर अपने मित्रों तथा सम्बन्धियो को उपहार में भी देती हैं।

बहनजी में सच्ची लगन थी। वे बहुत मेहनती थी; उनका हृदय प्रेम से परिपूर्ण था। ईसाई धर्म की सच्ची भावना जितनी मैंने उनमें देखी, उतनी अपनी पहचान के और किसी व्यक्ति में नही पायी। मैं चाहती हूँ कि जो भावना उन्होंने फतहपुर में पैदा की, वैसी ही भावना भारत के हर गांव में फैल जाय। यह भावना जीवन के प्रति वह नया दृष्टिकोण है, जिसका निर्माण आगे बढ़ने की इच्छा पर हुआ है।

सोलह

कुएँ का पानी

उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले में, लखनऊ से दक्षिण-पूर्व सौ घरों का एक छोटा-सा गाँव है, बरखुरदारपुर। यहाँ न कभी कोई सामाजिक कार्यकर्त्ता रहा है, न कोई कृषि-विशेषज्ञ। यह गाँव किसी ग्राम-विकास कार्यक्रम के क्षेत्र में भी नहीं है। यही वह गाँव है, जिसमें शकूर पैदा हुआ और बड़ा हुआ। यहीं उसका परिवार रहता है।

जब शकूर की पत्नी और उसके चार बच्चे मेरे शान्तिनिकेतन जाने से पहले गाँव से दिल्ली आये थे तब मैं उनसे मिली थी। शकूर की सबसे बड़ी लड़की सबरा बहुत बीमार थी। डॉक्टर से उसका इलाज कराने ये लोग शहर आये थे।

सबरा ठीक हो गयी थी और ये सब लोग सर्दियों भर हमारे मकान के पिछवाड़े शकूर के छोटे-से क्वार्टर में रहे थे। अप्रैल के शुरू में सब अपने गाँव लौट गये; क्योंकि कटाई के काम में सबरा और उसकी माँ की भी ज़रूरत थी। लेकिन सबरा, उसकी माँ, उसके दो भाइयों और उसकी बहन के दिल्ली से लौटने तक तो हमारी अच्छी दोस्ती हो चुकी थी और उन्होंने बड़े प्रेम के साथ मुझे न्योता दिया था कि मैं कुछ दिन बरखुरदारपुर जा कर उनके साथ रहूँ।

फ़तहपुर से—बहनजी के छोटे-से घर से—मैं ताँगा करके लखनऊ स्टेशन पहुँची। वहाँ से मैं जायस जाने के लिए गाड़ी पर सवार हुई। जायस एक बहुत छोटा स्टेशन है। शकूर के गाँव के सबसे निकट यही स्टेशन है। मैं हमेशा की तरह तीसरे दर्जे के ज़नाने डिब्बे में बैठी।

डिब्बा भरा हुआ था। ज्यादातर औरतें मुसलमान थीं। उत्तर प्रदेश में बहुत-से लोग शकूर और उसके परिवार की तरह मुसलमान हैं। मुसलमान औरतों का रंग अक्सर साफ होता है और वे अक्सर सुन्दर होती हैं जैसे कि भारतीय होते हैं। अपनी हिन्दू बहनों से वे पर्दे के सिलसिले में बहुत भिन्न

होती हैं; वे बडा सख्त पर्दा करती हैं। अपना बुर्का वे या तो अपने घर के अन्दर उतारती हैं या सिर्फ ऐसी जगहो में जहाँ औरतें ही औरतें हों, जैसे कि उस वक्त डिब्बे में।

लखनऊ से जायस की दूरी सौ मील से भी कम है, लेकिन गाड़ी बार-बार रुकती थी और इस यात्रा में लगभग तीन घंटे लग गये। मैंने सबरा को, जो मुझसे कुछ ही छोटी थी, अपने आने का खत लिख दिया था। वह अपने ताऊ और अपनी छोटी बहन कनीज़ के साथ मुझे लेने स्टेशन आयी थी। गाड़ी के स्टेशन में घुसने से पहले ही मैंने उसकी लाल चुन्नी से उसे पहचान लिया। दिल्ली में वह यह चुन्नी बहुत ओढा करती थी।

हम एक छोटी-सी दो पहियो वाली घोडा-गाड़ी में सवार हुए। धूलभरी कच्ची सुनसान सडक पर कोई तीन मील जाने के बाद, गाडी एक सूखे लेकिन हरे-हरे आम्रकुंज में होकर मुडी और गाँव जानेवाले बैलगाडियो के रास्ते पर चल पडी। गाँव लगभग एक मील रह गया था। सूखे खेत हाल में कटाई हो जाने के कारण खाली पडे थे। लगता था कि वे बहुत प्यासे हैं और जीवन-दायिनी वर्षा का इन्तज़ार कर रहे हैं, जिसमें अभी दो महीने की देर थी।

सबरा का घर गाँव के परले सिरे पर था। मेरा खयाल है कि वह ईंट का मकान उसके दादा ने अपनी जवानी में बनाया था। जब हम लोग वहाँ पहुँचे, तब सबरा की माँ अपने खुले हुए दरवाज़े के सामने कुछ काम कर रही थी। उसने और उसके सबसे बडे लडके इमताज़ ने, जो छः बरस का था, उमग से मेरी अगवानी की। सबसे छोटा लडका, चार बरस का मुमताज़ सो रहा था। उसे जल्दी से जगाया गया। इससे उसका मिज़ाज इतना बिगड गया कि उसने उस वक्त मुझसे बात करना भी पसन्द नहीं किया। कुछ देर बाद जब उसकी नींद बिलकुल उड गयी, तब उसने मुझसे बात की।

परिवार में एक सदस्य और था। वे थे सबरा के बूढे दादा; लम्बा कद, कोमल स्वभाव, मुँह पर बडप्पन की छाप और लहराती हुई सफेद दाढी। सबसे बडे को छोड़कर उनके सब लडके शकूर की तरह अलग-अलग शहरों में, मिलों में, कारखानो में या घरो में नौकर थे। उनके बीबी-बच्चे उनके साथ रहते थे। सिर्फ सबरा के ताऊ, जो मुझे लेने स्टेशन आये थे, अपने पिता की जमीन पर खेती-बारी करते थे।

सवरा के दादा थोड़ी-सी ज़मीन के मालिक हैं—खेती के लायक तीन एकड़ के टुकड़े के। वैसे इतनी-सी ज़मीन कम ही है; लेकिन इस क्षेत्र के अधिकांश लोगो के पास इतनी ज़मीन भी नही हैं। ज्यादातर लोग भूमिहीन मज़दूर हैं और उनकी मेहनत का मुआवज़ा उन्हे कटी हुई फ़सल के छोटे-से भाग के रूप में मिलता है।

सवरा के दादा के पास ज़मीन है। इसका यह मतलब नही कि वे रईस हैं। लेकिन अपनी ज़मीन और अपने दो बैल ले कर वे निश्चिन्त हैं। साधारण परिस्थितियों में उनका और उनके जैसे दूसरे ज़मीन-मालिको का रहन-सहन गाँव के भूमिहीन किसानों के रहन-सहन से बहुत भिन्न नही होता। लेकिन सूखे के दिनों मे या फसले खराब होने के जमाने में उन्हें कम मुसीबत झेलनी पड़ती है।

सवरा के घर का बहुत बड़ा भाग खुले आँगन ने रोक रखा था। रात को हम उसी में सोते थे। सुबह और शाम को ठंडक के समय उसमें बैठते थे। सवरा की माँ नाज और फलो को सुबह की धूप में उस आँगन में सुखाती थी। आँगन के ही एक कोने में मिट्टी का चूल्हा था। उसमें लकड़ी जला कर सवरा की माँ खाना पकाती थी।

आँगन के चारों ओर छोटे-छोटे कमरे थे, जिनमें अनाज भरकर रखा जाता था। खेती के जो कुछ भी थोड़े-बहुत औज़ार उनके पास थे, वे भी इन कमरो में ही रखे जाते थे। एक कमरा सवरा का था; उसे उस पर नाज़ था। उसमें एक चारपाई पड़ी थी। उसमें उसके, उसकी बहन के और उसके भाइयो के छोटे-छोटे बक्स रखे थे।

आँगन के एक कोने में नाली थी, जो बाहर गली में निकलती थी। इस नाली पर ही नहाना-धोना हो सकता था। गन्दा पानी उसी में डाला जाता था। फतहपुर की तरह यहाँ भी न पाखाना था, न बिजली, न पानी का नल। आस-पास के खेत पाखाने का काम देते थे और पास का कुआँ नहाने के लिए पानी के नल का। निकट भविष्य में ही बिजली के आ जाने की आशा है। उम्मीद है कि उत्तर की ओर पंजाब में लगभग १९५८ मे भाखरा बाँध के पूरा हो जाने पर पंजाब, दिल्ली, राजस्थान और उत्तर-प्रदेश के हज़ारो गाँवों को उसकी जल-

विद्युत् शक्ति और सिंचाई के पानी से लाभ होगा।

हमें बिजली के या और किसी तरह के प्रकाश की जरूरत ही भूले-भटके पड़ती थी। सोते हुए गाँवों को जगाना उषा के मद्धिम, कोमल प्रकाश का काम है। जब तक सूरज क्षितिज से निकले-निकले तब तक हम नहा-धोकर, बिस्तर और चारपाइयाँ उठा कर तैयार हो जाते थे तथा सबरा घर की सफाई करने लग जाती थी।

वह रोज़ कच्चे फर्श को साफ़ करती थी। आँगन में टोकरी के नीचे दबे रहनेवाले मुर्गी के बच्चों को दाना डालती थी। रात के जूठे और रसोई के बर्तनों को साफ करती थी और कुएँ से पानी लाती थी। इन सबको वह अपना रोजमर्रा का काम समझती थी। उसे इस पर कभी कोई शिकायत नहीं होती थी।

छोटे बच्चे हमसे ज्यादा देर तक सोते रहते थे। मैं और सबरा जब काम में लगे रहते थे, तब वे हाथ-मुंह धोकर नाश्ता करते थे। उनकी माँ रात के बचे हुए खाने से उनका नाश्ता तैयार कर देती थी। घर के दोनों मर्द बच्चों के साथ नाश्ता करते थे; उनके बाद सबरा और मैं। सबरा की माँ सबके बाद बैठती और जो भी बचता उसमें से अपनी पसन्द की चीज़ ले लेती। फिर कनीज़ और उमताज़ स्कूल चले जाते और मर्द कटाई के बाद का काम करने।

सबरा, उसकी माँ और मैं दूसरे कामों में लग जाती। अक्सर अनाज साफ़ करके उसे भारी-सी हाथ की चक्की में पीसना होता था। कभी-कभी मैं और सबरा कपड़े धोती या सिलाई करती थी। और अगर कभी काम नहीं होता था तो बैठ कर बातें करती।

अक्सर पड़ोसिनें आ जाती थी, ख़ास कर यह ख़बर फैल जाने के बाद कि सबरा के घर एक अमरीकी लड़की आयी हुई है। ज्यादातर तो मुझे देखने आती थीं और शुरू-शुरू में उनका भाव भी मित्रता का नहीं रहता था। मेरा रंग कुछ और था, मेरे बाल हलके रंग के और कटे हुए थे। बब्बुरदारपुर के अधिकांश लोगों ने ऐसी लड़की इसके पहले शायद ही कभी देखी होगी; इसलिए स्वाभाविक ही था कि बहुतों को मैं एक अजूबा लगती थी। ऐसी इन्सान नहीं, जिससे कि दुआ-सलाम हो सके या बातें की जा सकें।

गाँव के कुछ लोग विशेपतया सवरा और मेरी उम्र की लडकियाँ मुझसे मित्रतापूर्वक मिलती थी। जिस दिन में आयी उस दिन सब पडोसिनो का, जो मुझे देखने आँगन में जमा हुई थीं, जब मैं अभिवादन कर चुकी और उनसे मित्रता की दो बातें कर चुकी, तब सबरा ने मेरे कोहनी गडाकर धीरे से मुझसे कहा कि हम दोनों उसकी कुछ सहेलियों को लेकर ऊपर छत पर बने छोटे-से कोठार में चलें।

लड़कियों को भी कौतुक हो रहा था; लेकिन उनमे दोस्ती की भावना थी। उन्होंने मुझसे कई सवाल किये। मैं कहाँ से आयी हूँ? भारत क्यो आयी हूँ? मेरे भाई-बहन हैं या नही; मेरी शादी हो चुकी है या नही और ऐसी ही बहुत-सी बातें।

सबने—सबरा ने भी—अपनी नाक में नथ पहन रखी थी। मुझे याद आया कि जब सबरा दिल्ली आयी थी, तब उसकी नाक में नथ नही थी। तब मैंने पूछा कि नथ पहनने का क्या कोई खास मतलब होता है? उन्होने मुझे बताया कि लड़कियाँ नथ तभी पहनती हैं, जब शादी के लायक हो जायें—यही कोई चौदह-पन्द्रह बरस की उम्र में।

इसके बाद वे गाँव की एक लडकी के बारे में बातें करने लगी, जिसकी जल्दी ही शादी होने वाली थी। फिर एक और लड़की की चर्चा छिड़ गयी जो हाल में ससुराल से लौटी थी। उसने अपनी सहेलियो को बताया था कि जब वह खाना ठीक से नही बना पाती थी या घर का कोई काम ठीक तरह से नही कर पाती थी, तब उसकी सास उस पर बिगड़ती थी और कभी-कभी उसे मारती भी थी। सबरा और उसकी सहेलियो ने फैसला किया कि उन्हें सासो के पल्ले पड़ने से पहले ही अच्छी तरह खाना बनाना सीख लेना चाहिए।

ये लड़कियाँ और उनकी माताएँ यद्यपि मुसलमान थी, फिर भी गाँव में बुर्का नही ओढ़ती थी। वे बस अपना सिर चुन्नी से ढँक लेती थी; जैसा कि लगभग सभी वर्गों की भारतीय औरतो का रिवाज़ है, जिसे मैंने कभी का अपना लिया था।

सबरा, उसके परिवार और मेरे बीच होनेवाली बातचीत दिल्ली में बोली जानेवाली हिन्दुस्तानी में होती थी। बरखुरदारपुर के लोगो की हिन्दुस्तानी में

उर्दू कुछ ज्यादा रहती थी, जिसके कारण मेरे लिए उसे समझना कभी-कभी कठिन हो जाता था। मैं बातचीत का साधारण तारतम्य ही समझ पाती थी।

सबरा की माँ दोपहर का खाना सुबह बना लेती थी। बच्चे स्कूल से लगभग साढ़े दस बजे आते थे और हम खाना दोपहर होने तक खाते थे। भोजन में मुख्य चीज रोटी या चपाती होती थी। रोटी के साथ खूब मसालेदार आलू या अण्डा रहता था; कभी-कभी सब्जी भी होती थी। छोटे बच्चों को दूध मिलता था। चावल कभी-कभी खाया जाता था।

फ़तहपुर में शाक बहुत होता था। लेकिन बरखुरदारपुर में उनके दर्शन भी दुर्लभ थे। कभी कोई बेचने वाला शायद किसी दूर के गाँव से आ जाता था तो वह दाम इतने अधिक बोलता था, जो अधिकांश गाँववालों के बूते के बाहर होते थे। सब्जियों और फलों की तो बहुत कमी थी। इसको छोड़ कर भोजन सन्तोषप्रद जान पड़ता था। खाने की सामग्री काफी मिलती थी। जो खाना हम बरखुरदारपुर में खाते थे, उसमें यद्यपि विभिन्नता नहीं रहती थी—फिर भी मैं उसकी गिनती उन बढ़िया-से-बढ़िया खानों में करती हूँ, जो मैंने भारत के किसी भी कोने में खाये थे।

खाने के बाद हम दो-तीन घंटे आराम करते थे। पाँच बजे सबरा हिन्दी लिखना-पढ़ना सीखने के लिए एक पड़ोसी के यहाँ जाती थी। एक दिन सबरा की शिक्षिका ने गाँव में डाक्टर और बड़े बच्चों के लिए स्कूल की कमी की शिकायत की। उसने मुझसे कहा—"बहन जब तुम अपनी पढ़ाई पूरी कर लो, तब यहाँ आकर एक स्कूल और एक अस्पताल खोल देना।"

जब उसने मुझे बताया कि उसका बेटा बम्बई में डाक्टरी पढ़ रहा है, तब मैंने समझा कि वह अपेक्षाकृत समृद्ध है। उसके पास पैसा था और सबरा को वह पढ़ाती ही थी। इसलिए उसमें स्कूल खोलने की भी योग्यता थी। मैंने उससे पूछा कि वह खुद क्यों नहीं स्कूल खोलती? इसका उसके पास कोई उचित उत्तर न था। वह अभ्यस्त थी इस बात की कि ऐसे काम बाहरवाले करें।

मुझे सन्देह है कि उसका बेटा डाक्टर बन कर गाँव में अपना पेशा शुरू करेगा। वह शहर की तेज जगमगाती नीओन की बत्तियाँ देख चुका है। गाँव के टिमटिमाते हुए मिट्टी के तेल के दीपक उसे अच्छे नहीं लगेंगे। यह भावना

स्वाभाविक है और ससार भर के युवक-डाक्टरों के मन में बसी हुई है। लेकिन आज ज़रूरत है कि भारत के नवयुवको में स्वार्थ-त्याग की भावना पैदा हो। और उस भावी डाक्टर में अगर यह भावना नहीं जागी तो वह भी नगरो के पैसा कमानेवाले डाक्टरो की श्रेणी में सम्मिलित हो कर रह जायगा। उसका गाँव जहाँ-का तहाँ दु ख झेलता रहेगा।

सबरा की पढाई के बाद हम घूमने या मिलने चले जाते थे। सबरा के मकान के सामने और पिछवाड़े आम के पेड थे, जिन पर हरी-हरी कच्ची अम्बियाँ लगी थी। उन्हें तोड़ने के लिए उमताज़, मुमताज़ और दूसरे छोटे बच्चे बराबर ढेले और लकडियाँ फेंकते रहते थे। कच्ची अम्बियों के कसैलेपन मे भी एक स्वाद होता है, जैसा हरे सेब में होता है। जो गिरी हुई अम्बियाँ खाने से बच जाती थी उनकी हम बड़ी स्वादिष्ट चटनी बनाते थे।

मकान के पीछे-दूर तक एक तरफ को खाली खेत पड़े थे; दूसरी तरफ पेड़ों के नीचे जगह साफ करके सबरा के दादा और दूसरे ज़मीन-मालिको की फसल का अनाज भूसे से अलग किया जा रहा था।

सूरज डूब जाने के बाद हम लोग भोजन करते थे; आँगन मे चारपाइयो पर बिस्तर लगाते थे, और कुछ देर में दरवाज़े पर कुण्डी चढ़ा कर सो जाते थे। सबरा के ताऊ बाहर अनाज के पास सोते थे और दादा मुमताज़ के साथ छत पर।

मैं क्या बताऊँ कि उस ग्रामीण परिवार में रहने और उसके काम में हाथ बंटाने मे मुझे कितना आनन्द आया! दु ख यही है कि मैं वहाँ और ज्यादा न ठहर सकी; मुझे चौथे दिन ही आँख का दर्दनाक रोग 'ट्रकोमा' हो गया। फतहपुर में मैं ने जिन बहुत-सी दुखनी आँखो को "सेलाइन वाटर" से धोने में मदद की उनमें से शायद कोई ट्रकोमा से पीड़ित रही होगी। और उसी से मुझे यह रोग लगा होगा।

गाँव की दो एक घरेलू दवाइयां आजमाने के बाद पौने तीन मील दूर जायस के छोटे-से सरकारी अस्पताल के डॉक्टर को अपनी आँख दिखाने का फैसला किया। मैने मंगनी की एक साइकिल और मंगनी का ही धूप का चश्मा लिया और सबरा के ताऊ की मदद से मैं अस्पताल पहुँची। वहाँ के

व्यस्त डाक्टर ने और रोगियो की तरह मेरा भी मुफ्त इलाज किया।

मुझे कहना ही पड़ेगा कि सबरा और उसके परिवार के साथ मेरे अन्तिम तीन दिन इतने आनन्द से नहीं बीते जितने कि पहले चार दिन। धूप में मेरी आँखें खुलती ही नही थी। इसलिए मैं सबरा के कमरे के बाहर क़दम भी नहीं रख सकती थी। सब से ज्यादा दु:खदायी बात यह थी कि मै घर के भी किसी काम में सहायता नही कर पाती थी।

मैने बरखुरदारपुर के अपने घर और अपने नवीनतम परिवार से विदा ली। मैं इस एक सप्ताह को भारत में अपने आवास के अत्यन्त सुखद दिनों के रूप में याद करती हूँ।

बरखुरदारपुर खेती और साफ-सफ़ाई के आधुनिक विचारो से बिलकुल अनभिज्ञ था। वहाँ न नल-कूप थे, न खाद बनाने के गड्ढे; न मल-मूत्र बहाने की आधुनिक नालियाँ ही। हर रोज़ सुबह जिस कुएँ से मैं और सबरा पानी भरती थी, वह खुला हुआ था और उसका मुँह नाममात्र को भी ज़मीन से ऊँचा न था। कूड़ा-करकट और पत्थर-लकड़ी सभी कुछ उन में जाता था। घरों का गन्दा पानी बह कर गली में पहुँचता था। सबरा के ताऊ का हल चलाने, बीज डालने और कटाई करने का तरीक़ा वही था, जो उनके पुरखो के ज़माने से—सदियो से चला आ रहा था। फ़सल का भविष्य बहुत हद तक बरसात की दया पर निर्भर करता था।

मैंने मल-मूत्र बहाने की आधुनिक सीमेंट की नालियो और गहरे गड्ढो की व्यवस्था सबरा के ताऊ को समझायी और बताया कि भारतीय ग्राम-सेवा के गांवो में कई परिवारो ने यह व्यवस्था कर डाली है। वे बोले, "ठीक है बहनजी, लेकिन इसमें पैसा खर्च होगा और समय लगेगा। इतना सब करने लायक नही है यह काम।"

इस व्यक्ति में इस चीज का अभाव है, जिसे भारत सरकार के पंचवर्षीय योजना ने "प्रगतिशील दृष्टिकोण' की संज्ञा दी है। यह दृष्टिकोण, जो भारत में वैसी सामाजिक क्रान्ति की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जैसी कि मैंने सेवाग्राम और भारतीय ग्राम-सेवा के गांवो में देखी थी। सेवाग्राम में,

मढेरा के आसपास के गाँवो में और फतहपुर में मैंने यह प्रगतिशील दृष्टिकोण देखा। परन्तु वरखुरदारपुर में इसका अस्तित्व तक नही था।

वहनजी के फतहपुर जाने से पहले फतहपुर में भी इसका अस्तित्व नहीं था। जिन गाँवो में मै और वायलेट गये थे उनमें भी कुछ ऐसे थे जिनमें इसका अभाव था। गाँव की औरतो को सिर्फ़ इस वात में दिलचस्पी थी कि मै कौन हूँ और विवाहित हूँ या अविवाहित। वच्चो तक में "कोई नयी वात न सीखने की" भावना घर किये हुए थी।

वरखुरदारपुर में ग्राम-कार्यकर्त्ता को उन्ही समस्याओं का सामना करना होगा, जिनका भारतीय ग्राम-सेवा के कार्यकर्त्ता और ग्राम-विस्तार-सेवाओ के कार्यकर्त्ता सारे भारत में सफलता के साथ कर रहे हैं। मूल रूप में समस्या यह है कि लोगो में किसी क़दर नयी वातो को और काम करने के वेहतर तरीको (कम-से-कम कार्यकर्त्ता तो यही मानते है) को ग्रहण करने की इच्छा नही है, उत्साह नही है।

इस उत्साहहीनता को देख कर कुछ लोग अधीर हो कर कह देते हैं—"कोई फ़ायदा नही है। गाँवो के लोग सीखना ही नही चाहते। उन्हे कुछ भी सिखाने की कोशिश करना समय नष्ट करने के वरावर है। अगर वे अज्ञान और ग़रीवी में ही जीना और मरना चाहते हैं, तो यही होने दो।"

वहनजी, वायलेट और भारतीय-ग्रामसेवा की दूसरी सहयोगिनियों का दृष्टिकोण अलग है। इसकी कैसे आशा की जा सकती है कि जिस शख्स के दादा-परदादा वीज विखेर कर वोते आ रहे हैं, वह कतारो में वीज वोने को तैयार हो जायगा? एक नियमित व्यवस्था से वीज वोने से किसान को कोई लाभ नही दीखता और समय इतना वुरा है कि नये और अपरीक्षित उपायो के प्रयोगो का खतरा उठाना उसे उचित नही लगता।

जिस व्यक्ति ने जीवन में केवल इतना सुना हो कि कोई वीमार अस्पताल गया था और वहाँ से जीवित नहीं लौटा; इससे अधिक उसे अस्पताल का कोई अनुभव न हो। अगर वह व्यक्ति गम्भीर से गम्भीर रोग में फँस कर भी अस्पताल न जाये तो यह स्वाभाविक ही है। लोग किसी भी राष्ट्र के हों अगर उन्हें यह ज्ञान नही है कि अस्पताल उनकी कितनी ज्यादा सेवा कर

सकता है, तो उन्हें अस्पताल की महत्ता का विश्वास करा देना अत्यन्त कठिन कार्य है।

जिस व्यक्ति ने रोगाणुओं का नाम नही सुना है, उसके लिए जो पानी आँख से साफ़ दिखाई दे वह बिलकुल साफ है। यदि आप अमरीका जैसी रोगाणुओं से परिचित सभ्यता में नही पले हैं तो आपके लिए यह विश्वास करना कितना कठिन होगा कि ऐसी छोटी-छोटी चीजें भी हैं, जो आँख से दिखाई नही देतीं और जो आपको बीमार बना सकती हैं। और कितना आसान होगा यह विश्वास कर लेना कि आपकी बीमारी देवी-देवताओं का प्रकोप है, जैसा कि चावला के लोगो ने बच्चे के मियादी बुख़ार से पीड़ित हो जाने पर माना था।

बहनजी और बायनेट आपसे पूछ सकती हैं कि क्या आपने कभी कल्पना की है कि आप लम्बे-चौड़े जंगलों से घिरे हुए एक छोटे-से गांव में रह रहे हैं। आपकी दुनिया गाँव की सीमाओ में घिरी हुई है। आप कभी उस क्षेत्र से बाहर नही निकले हैं। आपने रहन-सहन के अपने ढंग के सिवाय कोई और ढग नही देखा है। आपके बड़े दादा जो गांव के बुजुर्ग हैं, और बाकी बड़े-बूढ़े सब एक ही तरीक़े से खेती करते हैं। आपके दादा का तरीक़ा ही एक मात्र तरीक़ा है। आपको शायद कभी गुमान तक नहीं होगा कि कोई और तरीक़ा भी हो सकता है।

तब क्या आपको आसानी से विश्वास हो जायगा कि सिर्फ़ और तरीक़े ही नहीं हैं, बल्कि आपके तरीक़े से कहीं ज्यादा अच्छे तरीक़े भी है? यदि कोई बाहरवाला आपसे आकर कहे कि अपनी खेती के औज़ारो और तरीको में अमुक परिवर्तन कर डालो, तो क्या उसके सुझावो पर आप सन्देह नही करेगे? आप सुझावा पर ही नही; उस व्यक्ति पर भी सन्देह करेंगे और उसके कट्टर विरोधी भी हो जायंगे।

भारत के गाँव सदियो से सो रहे हैं। अब देश के आज़ाद हो जाने के बाद ही लोग करवट लेने लगे हैं। जो कुछ उनके सीधे-सादे गांवो से उन्हें मिलता है, उससे ज्यादा पाने की इच्छा करने लगे हैं; जरूरत समझने लगे हैं।

यह करवट बड़ी अद्भुत है। दूसरी पचवर्षीय योजना के अनुसार १९६१ तक कृषि, जन-स्वास्थ्य और शिक्षा-विस्तार-व्यवस्था भारत के एक-एक गांव में पहुंच जायंगी। सामूहिक योजनाएँ गांवो के विकास के कार्यक्रम की जान हैं।

लगभग एक लाख गाँवों में सात करोड़ जनता के लिए भारत में सामूहिक योजनाओं का काम शुरू भी हो चुका है।

सिंचाई और विजली के लिए अनेक वाँधों का निर्माण करवाना पाँच सालाना आयोजन में शामिल है। यह काम ग्राम-विकास कार्यक्रम का वहुत महत्वपूर्ण भाग है। इन वाँधों की योजनाओं में सबसे वड़ी है उत्तर-पूर्वी पंजाव की भाखरा-नंगल योजना। शान्तिनिकेतन की मेरी सहेली, मनजीत के पिता इस योजना में ओवरसीयर थे। मनजीत ने मुझे एक सप्ताह के लिए अपने घर वुलाया।

मेरा ट्रकोमा जल्दी ही ठीक हो गया और मैंने उसका आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

दस साल पहले पूर्व पजाव के उत्तर होशियारपुर ज़िले में मनजीत के घर के चारो ओर हिमालय की निचली सूखी पहाड़ियों का क्षेत्र वीरान पड़ा था। दूर-दूर पर कुछ छोटे-छोटे गाँव ही वसे हुए थे। नंगल अव तो एक प्रगतिशील वस्ती है, उसमें कई स्कूल हैं, अस्पताल हैं, मन्दिर-मसजिद हैं; लेकिन तव इस योजना के पहले वहाँ नंगल का नाम तक नही था।

१९४७ में विभाजन होने के वाद हजारो हिन्दू और सिख पाकिस्तान से पूर्व पंजाव में आये और उस वजर भूमि से अपना जीवनयापन करने के लिए होशियारपुर ज़िले तक पहुँचे। आज अधिकांश विस्थापित विशालकाय भाखरा-नंगल योजना पर इंजीनियरों, ओवरसीयरो, ड्राइवरों, मैंकेनिको और मजदूरों की हैसियत से काम कर रहे हैं। नंगल क्षेत्र मशीनों की आवाज़ से गूंज रहा है।

जिन दिनों मैं वहाँ थी, तव इस विशाल योजना के पहले दौर का काम पूरा होने के क़रीव था। जव वाँध, विजलीघर और नहरो का जाल विलकुल पूरा हो जायेगा, तव पंजाव की चप्पा-चप्पा सूखी ज़मीन की सिंचाई होने लगेगी और उत्तरी राज्यो के हज़ारों गांवो को जगमगा देने के लिए काफ़ी विजली पैदा होने लगेगी। यह संसार की सवसे वड़ी सिंचाई-योजना है। इसका वाँध सवसे वड़ा है। इसकी ऊँचाई सिर्फ हमारे हूवर वाँव से नीची रहेगी।

फिर से इस सारे-के-सारे विशाल क्षेत्र का रूप वदल जायगा। ज़मीन को

पानी मिलेगा। वह लहलहाने लगेगी—उन लोगों की मेहनत से, जो फिर से अपना जीवन बना रहे हैं।

मनजीत और उसका परिवार भी अपना समृद्ध घरबार और निश्चित जीवन छोड़ कर विस्थापितो की बाढ के साथ आये थे। उसके पिता को सरकारी नौकरी प्राप्त करने में सफलता मिली और बहुत-से लोगो की तरह वे नंगल नहर पर ओवरसीयर नियुक्त हो गये।

वे अपने परिवार के साथ अपने काम की जगह पर ही रहते हैं। यह जगह नंगल से दस मील दक्षिण नहर के किनारे है। बुलडोज़र और ट्रकें वहाँ रात-दिन काम में लगी रहती थी और कभी-कभी उनके शोर से रात को नींद टूट जाती थी। उस समय उत्साह का अनुभव होता था।

जहाँ-जहाँ काम चल रहा है, वहाँ-वहाँ सुविधाजनक जगहों पर नहर के कर्मचारियों के लिए अस्थायी मकान बनवा दिये गये हैं। कर्मचारियो को बिजली मुफ़्त दी जाती है। बडे परिवार के लिए मकान छोटे हैं। मनजीत के घर में दो छोटे कमरे, एक भंडार, एक छोटा-सा रसोईघर और आँगन है। उनकी गाय और बछडा भी आँगन में ही बँधे रहते है। जगह बडी सूनी है। कुछ थोड़े-से परिवार ही वहाँ रहते हैं। सबसे नज़दीक का शहर नौ मील दूर है और सड़क कच्ची तथा धूल भरी है।

मैं एक सप्ताह मनजीत के साथ रही। उसकी गर्मियो की छुट्टियाँ थी। हमारा ज्यादा समय घर के अदर पढने-लिखने, सीने-पिरोने और बातें करने में गुज़रता। एक दिन सुबह हम नगल की बस्ती में गये जो नज़दीक ही है। ज़ोरों से काम चल रहा था। योजना के लगभग सभी कर्मचारी उस बस्ती में रहते हैं। वे पहली बार इंजीनियरिंग की इतनी बडी योजना के काम में लगे हैं। कुछ अमरीकी टेक्निशियन भी बस्ती में रहते हैं। वे भारतीय इंजीनियरो की सहायता करने के लिए आये हुए हैं। एक रोज़ हम बाँध का प्रारम्भिक काम देखने भाखरा गये।

बडी हँसी-खुशी में एक सप्ताह बीता और मैंने मनजीत तथा उसके परिवार से विदा ली। एक लम्बा-चौडा सिख विस्थापित ड्राइवर सीमेंट की खाली बोरियाँ शहर ले जा रहा था, उसने अपनी ट्रक से मुझे स्टेशन पर छोड़ दिया। शाम को मैं दिल्ली पहुँच गयी।

सत्रह

महीनों बाद बेकार

खुरदारपुर से दिल्ली लौटने के लगभग तीन सप्ताह बाद में मनजीत के यहाँ गयी थी। यह समय मैंने दिल्ली में बिताया ; इसीमें अपनी आँखों का इलाज भी कराया। ये तीन सप्ताह मैं अपनी अमरीकी 'अभिभावक' जीन जायस के साथ रही। वे दिल्ली में काम करनेवाले कुछ अमरीकियो के साथ पुरानी दिल्ली के एक छोटे-से फ़्लैट में रहती थी।

दिन को वे काम पर जाती थी। इसलिए मेरा अधिकांश समय १७, रैटेन्डन रोड में शकूर व दूसरे नौकरो से, जो हमारे पुराने घर के पिछवाडे अहाते में रहते थे, मिलने-जुलने में बीतता था। मैं अक्सर सुबह उनके यहाँ चली जाती थी; दिन भर वहीं रहती और लगभग गोधूलि के समय डाक्टर के पास जाती। मर्द लगभग आधी छुट्टी पर थे। वे भारत में नये अमरीकी राजदूत, श्री जार्ज एलेन के आगमन की तैयारियो में लगे थे।

अहाता भरा हुआ था। छोटे-छोटे मकानों में, जो शायद पन्द्रह फुट लम्बे और आठ फुट चौड़े रहे होंगे, नौ परिवार रहते थे। आँगन और पाखाना सबके लिए एक था। इतनी भीड होने और धर्म तथा भाषा के अन्तर के उपरान्त भी वे सब खूब हिल-मिल कर रहते थे।

शकूर मुसलमान था। वह आजकल अकेला था। उसका परिवार गाँव लौट गया था। उसकी ज़बान उर्दू थी। किशोरलाल नवयुवक हिन्दू था। वह स्वभाव का बहुत अच्छा था और अपने परिवार के साथ रहता था। उसके चार बच्चे थे। उसकी पत्नी हमेशा हँसती रहती थी।

सुशेन रसोइये का नाम था। वह और उसकी पत्नी बौद्ध थे और पूर्व बंगाल के रहनेवाले थे। सुशेन की पत्नी को मैं दीदी कहा करती थी। उसकी मातृभाषा बँगला में 'दीदी' बड़ी बहन को कहते हैं। वह बहुत आकर्षक औरत

थी। बालों को वह तेल डाल कर और कंघी करके बिलकुल साफ़ रखती थी और हमेशा उसका जूडा बाँधे रहती थी।

ड्राइवर जीवन और उसकी पत्नी सिख थे। उनकी उम्र कुछ ज्यादा थी। उनका गाँव पंजाब में एक सामूहिक योजना के क्षेत्र में था। उनकी मातृभाषा पंजाबी थी। जीवन की पत्नी बड़े कोमल स्वभाव की दयालु स्त्री थी। मुझसे वह हमेशा माँ की तरह व्यवहार करती थी। एक दिन उसने मुझसे कहा, "जैसी मेरी बेटी, वैसी तुम।" वह पंजाबी ढंग की पायजामे जैसी सलवार और क़मीज़ पहना करती थी।

दो माली थे। दोनो हिन्दू थे और दोनों के परिवार उत्तर प्रदेश के गाँवो में रहते थे। जिसकी उम्र अधिक थी उसकी पत्नी बड़ी हँसमुख और साहसी थी। गर्मियो का ज्यादा समय वह अहाते में ही बिताती थी। वह मोटी-मोटी साड़ियाँ और गाँव की औरतो जैसे भारी-भारी चाँदी के ज़ेवर पहनती थी। जब वह चलती थी तो उसके पाँवो की भारी-भारी पायलें झनकती रहती थी। उनके पैरों में पायलो की रगड से बडी-बडी सख्त लकीरें पड़ गयी थी जो उसने मुझे और किशोरलाल की लडकी शान्ति को दिखायी थी।

मदन भगी (झाड़ू-वाला) था। उसका युवक बेटा और उसकी पत्नी उसके साथ रहते थे। मालियो की तरह वह भी गाँव की हिन्दुस्तानी बोला करता था। मदन हिन्दू हरिजन था। घर का सारा गंदा काम उसके ज़िम्मे था—फर्श धोना, गंदगी फेंकना, बरसाती में झाडू लगाना इत्यादि। अहाते के लोग उससे बुरा बर्ताव तो नही करते थे; परन्तु केवल सयोगवश नीची जाति में जन्म लेने के कारण उसे नीचा समझा जाता था।

उसी समय जबकि मैंने समझा था कि मैने और मेरे परिवारवालो ने यह स्पष्ट कर दिया है कि हम उन सबको बराबर समझते हैं; कुछ बच्चो ने मुझसे कहा कि मैं कभी मदन के घर का न पानी पिऊँ, न खाना खाऊँ। जो थोडा-सा समय हमने भारत में बिताया उसमें हमने नौकरों के बीच बराबरी की बहुत कुछ भावना पैदा की। लेकिन जो संस्कार बचपन से घर किये हुए है, उन्हें दो वर्ष में हर्गिज़ नही मिटाया जा सकता।

चौकीदार निसार, ग़फ़ूर की तरह मुसलमान था। ग़फ़ूर की ही तरह उसका गाँव भी उत्तर प्रदेश में था। उसकी पत्नी और तीन बच्चे कुछ समय के लिए

उसके पास आकर रहे। उसका कद लम्बा था। उसके चेहरे पर दाढी थी और शीतला के दाग़ बुरी तरह छाये हुए थे।

धोबी का नाम बद्रीप्रसाद था। वह हिन्दू था। उसकी पत्नी और छोटे-छोटे तीन लड़के उसके साथ रहते थे। वे ताजमहल के नगर आगरे के रहनेवाले थे। वह पडोस के दो-तीन परिवारो का भी काम करता था। अहाते के एक कोने में उसकी सीमेंट की बड़ी-सी टंकी थी जिसमें वह कपड़े धोया करता था। गर्मियों के दिनो में बच्चे उसमें तैरा करते थे। उसकी पत्नी कपड़ों पर इस्त्री किया करती थी। उसकी इस्त्री बहुत बड़ी और भारी थी जिसमें दहकते हुए कोयले भरे जाते थे।

अहाते के बच्चे स्वभावतया मेरे ख़ास दोस्त हो गये। किशोरलाल की सबसे बडी तेरह बरस की लड़की सुन्दर और हृष्टपुष्ट थी। अपने छोटे भाई को सँभालने और सफाई तथा खाना पकाने का बहुत-सा काम उसके ज़िम्मे था। उसके लम्बे, घने और खूब काले बाल बहुत ही सुन्दर थे। बालों में रोज़ कंघी करना और उनकी एक खूबसूरत चोटी गूँथना भी उसका नित्य-प्रति का काम था।

शान्ति का भाई—प्यारेलाल दस वर्ष का था। रोज़ सुबह वह मुझे बड़ी होशियारी के साथ सफेद क़मीज़ और निकर पहने स्कूल जाने को तैयार मिलता था। दोपहर मे घर लौट कर अपने स्कूल के कपड़े वह हिफाज़त से घर में टाँग कर, धोबी के दोनो लड़कों के साथ खेलने के लिए पिछवाड़े की गली में निकल जाता था।

शान्ति की छोटी बहन लीला की आयु ६ साल की थी। वे बचपन के आनन्द के दिन थे। इस उम्र में बच्चे लगभग वही करते हैं, जो उनके जी में आता है। लाज-शर्म का कोई ख़याल नही होता, इसलिए कपड़े भी चाहे जैसे पहनते हैं। लीला इस ज़माने का पूरा आनन्द ले रही थी और उसके जीवन में उतनी ही बेफिक्री थी, जितनी शान्ति के जीवन में जिम्मेदारियाँ। तपती धूप में वह सिर्फ़ एक निकर पहने खेलती-फिरती थी, जिससे उसके शरीर का रंग और पक्का हो गया था। किशोरलाल का सबसे छोटा लड़का—अशोक कुमार छ महीने का था; गोल-मटोल, हँसमुख और स्वस्थ।

धोबी का लड़का भगवानदास शान्ति के बराबर लगभग तेरह वर्ष का

था और शान्ति की ही तरह उस पर भी कई जिम्मेदारियाँ थी। धुलाई में अपने पिता की और इस्त्री करने में अपनी माता का हाथ बँटाने की। प्यारेलाल की तरह वह स्कूल जाता था और हर रोज गर्व के साथ पाठ पढ़कर सुनाता था। उसका कोई ग्यारह वर्ष का भाई बाबूलाल वैसा ही था, जैसे कि छोटे भाई होते हैं, जिन पर बड़े भाई रोब गाँठा करते हैं।

परिवार में सबसे छोटा था दो बरस का रामदास। वह बीमार और कमजोर होते हुए भी बड़ा प्यारा था। मुझे उससे विशेष लगाव था। मेरी माँ ने बार-बार कोशिश की थी कि उसका नियमित रूप से इलाज हो। दुर्भाग्य से उसके माता-पिता आने-जाने की कठिनाई के मारे और अस्पताल के प्रति अपने अविश्वास के कारण इलाज जारी रखने को तैयार नहीं हुए। इसलिए बच्चा बेचारा कमजोर ही रहा और उसकी बाढ़ भी दब गयी।

कभी-कभी मेरी इच्छा होती थी कि काश, बच्चे कभी बड़े होते ही नहीं और उन्हें वयस्क आयु के उत्तरदायित्व का भार उठाना ही न पड़ता। वे मुझे अपनी बड़ी बहन की तरह मानते थे और उनके माता-पिता बेटी या बहन की तरह। शकूर ने एक दिन मुझसे कहा—"मैं तुम्हें अपनी छोटी बहन समझता हूँ।"

इन लोगों का आतिथ्य-प्रेम असीम था। हमेशा एक परिवार मुझसे अपने साथ भोजन करने का आग्रह करता था और दूसरा दोपहर में अपने साथ आराम करने का। शान्ति के साथ मैं कई बार रात को भी रही।

उनका यत्किंचित् बदला चुकाने के लिए मैं बच्चों के वास्ते मिठाई और फल लाती थी। अपनी साइकिल को टैक्सी बनाकर उन्हें कभी दुकान, कभी स्कूल और कभी इधर-उधर घुमाने ले जाती थी। जब औरतें खाना बनातीं, तब मैं उनके पास बैठकर देखा करती और उनकी सहायता करती। लेकिन दुनिया भर के उपहार देकर भी मैं उनसे उऋण नहीं हो सकती। जो कुछ मैंने उनसे पाया था, उसका बदला मैं अपने प्रेम और सद्भावना से ही दे सकती थी।

अहाते की भीड़-भाड़ वाली व्यस्तता में जैसे ये दिन बीते, उसके बिलकुल विपरीत एक सप्ताह मैंने गर्मियों में काश्मीर के एक बड़े-से घर में गुजारा। सुशीला बहन के कुछ मित्रों ने, जो हर साल गर्मियाँ बिताने के लिए

पहाड़ जाया करते थे, मुझे अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव पेश किया।

हम रेल द्वारा दिल्ली से पठानकोट को रवाना हुए। पठानकोट भारत के उत्तरी भाग में अंतिम रेलवे स्टेशन है। दूसरे दिन सुबह ही हम वहाँ पहुँच गये और मोटर से २६५ मील दूर श्रीनगर को चले। मोटर पहाड़ो में ऊपर-ही-ऊपर चढ़ती हुई नौ हज़ार फुट ऊँचे बनिहाल दर्रे पर पहुँची और वहां से धीरे-धीरे श्रीनगर की घाटी में उतरी।

शाम को हम श्रीनगर पहुँचे। मौसम ठंडा था और हलकी-हलकी बूंदें पड़ रही थीं। मकान शहर से बाहर सड़क के किनारे एक पहाडी पर था। पहाड़ी पेड़ो से भरी हुई थी। मकान बहुत बडा था, लेकिन उसकी सजावट साधारण थी। उसे देखकर मुझे अपने देश के मेन नगर के गर्मियाँ बिताने के घर याद आ गये।

मैं पंजाबी परिवार के साथ थी, जो काफी समृद्ध था। विभाजन से पहले वे लोग पंजाब के उस हिस्से में रहते थे, जो अब पाकिस्तान में है। निस्सन्देह दादाजी परिवार के मुखिया थे और यहाँ वे छुट्टी मनाने आये थे। लेकिन अपने काम में यहाँ भी व्यस्त रहते थे।

परिवार के छोटे सदस्य दादा और दादी का बहुत सम्मान करते थे। डाक्टर साहब के सामने सब औरतें सिर ढँके रहती थी और सुबह उठकर पहले जाकर उन्हे प्रणाम करती थी। छोटे बच्चे उनके पैर छूते थे। वह ज़ोर से शायद ही कभी बोलते थे, लेकिन उनकी आवाज़ रोबदार थी और यह बात तय थी कि उनकी आज्ञा-पालन करने के लिए ही होती थी।

दादी धार्मिक प्रवृति की कोमल स्वभाववाली, ठिगनी-सी महिला थीं। उनके बाल पकने लगे थे। वे सस्कृत की एम. ए. थी। यह सफलता बड़े मान की बात थी।

उन दिनो परिवार में दो बहुएँ और उनके बच्चे भी थे। एक बडा लडका था, जो डाक्टरी के दूसरे वर्ष में पढ रहा था। सोलह और सत्रह वर्ष की तीन लड़कियाँ थी, जो दिल्ली में हाईस्कूल में पढती थी और दो लड़के छोटे थे—एक छः साल का और दूसरा चार साल का।

यह परिवार कट्टर हिन्दुओं का था। कट्टर परिवार रोज़ सुबह जल्दी

प्रार्थना किया करते हैं। अब यह नित्य-कर्म दादा-दादी ही किया करते थे। दादाजी ने मुझसे कहा, "नयी पीढी अपना धर्म-कर्म भूलती जा रही है।" रोज़ सुबह वे मुझे उसमें भाग लेने को बुलाया करते थे।

होमकुंड के पास बैठ कर दादाजी हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थ-वेदों से भगवान् की स्तुति के श्लोकों का पाठ किया करते थे। बीच-बीच में निश्चित स्थलों पर वे, दादीजी और मैं घी, पानी और हवन-सामग्री अग्नि में डालते थे। यह क्रिया हवा, पानी और भोजन की शुद्धि की प्रतीक थी। अक्सर दिन में अनेक बार मैं दादाजी को प्रार्थना में लीन देखती थी।

काश्मीर "भारत का स्विटज़रलैंड" है। सैंकडों समृद्ध भारतीय और अगणित विदेशी भ्रमणार्थी यहाँ गर्मियाँ बिताने आते हैं। दुर्भाग्य से मैं काश्मीर में चार दिन ही रही और चारों दिन बरसात होती रही। इसलिए श्रीनगर शहर को छोडकर वहाँ के दर्शनीय स्थल देखने का मुझे अवसर ही नहीं मिला। पठानकोट से श्रीनगर तक के रास्ते का दृश्य ही मैंने देखा। लेकिन जो कुछ मैंने देखा उससे मुझे निराशा ही हुई। वहाँ से पंजाब के गर्म प्रदेश में लौटने का मुझे दुःख नहीं हुआ।

काश्मीर के लोगों की दस्तकारी खासकर कढाई मशहूर है। जिस परिवार के साथ मैं ठहरी थी, उसकी औरतें पोतियों के साथ अक्सर नगर में कपडे की छोटी-छोटी दुकानों पर खरीदारी करने जाती थीं। एक कमरे के सामने से खुली हुई तंग दुकानों में बडी बारीक कढाई की साडियाँ, शाल, ब्लाउज और कोट इस तरह टंगे रहते थे कि खरीदार की आँख उन पर पडे बिना न रहे। मर्द पालथी मारे फर्श या लकडी की बेंच पर बैठे हुए सिलाई करते रहते थे ताकि गर्मियों में, बाहर से आने वाले ग्राहकों की माँगों को पूरा कर सकें। जब मेरी साथवालियाँ चीज़ें पसन्द करने या दुकानदार से मोल-भाव करने में लगी होती थीं; तब मैं दस्तकारों की उड़ती हुई सुइयों पर नज़र गडा कर उनकी कढ़ाई के टांके सीखने की कोशिश करती थी।

अपने इस नये परिवार के साथ मैंने चार दिन बेचैनी भरे आलस्य और आराम में बिताये। सारा काम नौकर करते थे। बच्चों के लिए तो बैठ कर बातें करने और बेकार दिन काटने का ही एकमात्र काम रह गया था।

इस वातावरण में मैं खुश नही रह सकती थी। सवरा की मेहनत जिसकी उसे कोई शिकायत नही थी, और उसके गाँव के घर की ठेठ सादगी, वाइज़र दम्पति, वायलेट, फ़तहपुर की मेरी बहनजी और भारतीय ग्राम-सेवा की अन्य सहयोगिनों का अथक कार्य, तथा १७, रैंटेन्डन रोड के अहाते की भीड-भाड़ की हँसी-खुशी इन सबकी मीठी याद अभी मेरे मन से ज़रा भी नही उतरी थी। खाली बैठकर समय गँवाने में मुझे शर्म आती थी।

अठारह

पंजाब में स्वागत

वायलेट और मेरी फ़तहपुर की बहनजी ईसाई थी। शकूर का परिवार मुसलमान था। काश्मीर मे छुट्टी मनानेवाला परिवार हिन्दुओं का था। मनजीत और उसके सम्बन्धी सिख थे। दिल्ली मे मेरी पहचान हुई थी एक और लड़की, कवल से। वह और उसका परिवार भी सिख था। एक सप्ताह मे उसके साथ उसके घर अमृतसर में रही, जहाँ मैंने सिख धर्म की और जानकारी हासिल की।

कवल से मिले मुझे एक वर्ष हो गया था। तब वह दिल्ली में पढा करती थी। चूँकि मेरी कभी उससे घनिष्ठता नही हुई थी इसलिए मुझे कुछ संकोच हुआ कि उसके घर वास्तव में मेरा कैसा स्वागत होगा। परन्तु मुझे याद है कि उसका आमन्त्रण कितना प्रेम भरा था और मुझे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता न थी। मेरे परिवार के भारत से प्रस्थान करने के थोड़े समय बाद ही उसने मुझे लिखा था:—

यदि तुम अमृतसर आओ तो बडा आनन्द रहेगा। तुम ज़रूर आओ और हमारे साथ ठहरो। मैं बिलकुल सच कहती हूँ और इसमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि यह हमारे लिए बहुत ही हर्ष की बात होगी। मैं तुम्हारे आने का इंतजार करूँगी।

हम तुम्हारे आवास को सफल बनाने के लिए कोई कसर बाकी न रखेंगे और मैं हृदय से चाहती हूँ कि तुम जितना अधिक समय निकाल सको, उतने अधिक समय तक हमारे साथ रहो। मेरे मौसा मेरे अभिभावक हैं; वे तुम्हारे भी अभिभावक रहेंगे। मुझे विश्वास है कि तुम उन्हें पसन्द करोगी।

श्रीनगर से दो घण्टे की उड़ान में मैं अमृतसर पहुँच गयी। कवल और उसके मौसा पाँच मील दूर हवाई स्थलपर मुझे लेने आये थे। कवल के चाचा की छोटी-सी मोटर से हम उनके ईंट के पुराने ढंग के सादे मकान में पहुँचे, जो शहर के एक किनारे, छावनी की एक शान्त गली में बना हुआ था। वह एक-मंजिला मकान कुछ-कुछ सवरा के मकान जैसा था—केवल वह उससे कुछ बड़ा था। सवरा के घर में बिजली नहीं थी; इसमें बिजली थी जैसे कि शहर के लगभग सभी घरों में होती है।

कवल ने अपने बड़े और अत्यन्त ही आश्चर्यजनक परिवार के सब सदस्यों से मेरा परिचय कराया—लेकिन एक साथ नहीं। वह मुझे अपना घर दिखाने ले चली और जहाँ जो मिलता गया, वहाँ उसीसे मेरा परिचय कराती गयी। प्रत्येक व्यक्ति के मन में मेरे प्रति मैत्री और स्वागत की भावना उमड़ी पड़ रही थी।

कवल की परनानी—उसकी माँ की दादी—परिवार में सबसे बड़ी थी। नाना, नानी और नाना की बहन बुजुर्गों में शामिल थे। ये भी परिवार के लगभग स्थायी सदस्य थे।

जिन दिनों मैं अमृतसर में थी, उन दिनों नयी पीढ़ी के सदस्यों में थे कवल की मौसी और मौसा (जो मुझे लेने आये थे।) और उसके मामा और मामी तथा उनकी छोटी लड़की।

कवल अमृतसर में अपने मौसा की निगरानी में हाईस्कूल में पढ़ती थी। कवल का अपना परिवार दिल्ली में रहता था।

कवल ने बताया कि उसका अमृतसर का परिवार अधिकांश संयुक्त परिवारों से भिन्न है। आमतौर से दादा ही परिवार के मुखिया हुआ करते हैं; लेकिन यहाँ यह पद नाना को प्राप्त था। रिवाज के मुताबिक उनकी मौसी को विवाह के बाद अपने घर जाना चाहिए था; किन्तु उसके मौसा अपनी ससुराल में आ कर बस गये थे।

यह परिवार डाक्टरों का है। नाना अमृतसर के प्रतिष्ठित डाक्टर हैं। उनकी काफी उम्र है। लेकिन वे निरंतर काम करते रहते हैं और पैसा उन्हीं रोगियों से लेते हैं, जिनकी हैसियत पैसा खर्च करने की होती है। कवल के मामा आँखों के डाक्टर हैं और नवयुवती तथा सुन्दर मामी स्त्रियों की डाक्टर हैं।

कवल के मौसा डाक्टर हैं और अमृतसर के एक लडको के कॉलेज में लेक्चरर भी। उनकी पत्नी लडकियों के हाईस्कूल की प्रिन्सिपल हैं। उसी स्कूल में कवल डाक्टरी के कॉलेज में भर्ती होने के लिए आवश्यक शिक्षा ग्रहण कर रही थी। कवल की मौसी और मौसा के साथ मेरी सब से अधिक घनिष्ठता हो गयी।

मौसा की आयु पचपन वर्ष से अधिक है। वे बडे सज्जन और सुन्दर हैं। उनके लम्बे-लम्बे बाल सफेद होने लगे हैं, जिनपर वे पगडी बाँधते हैं। कवल और उनमें बहुत समानता है। दोनों ही वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों के प्रति जागरूक हैं और उन्हे सुधारना चाहते हैं। अपने धर्म के प्रति दोनो को गहरी आस्था है, साथ ही वे और सब धर्मों का आदर करते हैं। बहुत सीधे-सादे, दिखावे से दूर, स्पष्ट-भाषी और ईमानदार हैं ये लोग। मुझे उनसे मिलकर बहुत खुशी हुई।

कवल से मैं अक्सर खूब बातें किया करती थी। मेरे विचारों से जितने उसके विचार मिलते थे, उतने शायद और कसी के नही। कवल अधिकांश पंजाबियों की तरह लम्बी, देखने में आकर्षक और हृष्ट-पुष्ट है, उतनी ही गोरी, जितनी कि मै। उसके बाल गहरे भूरे रंग के हैं, मेरे बालों से ज़रा गहरे। कवल ने कभी अपने बाल नही काटे और उनकी दो लम्बी-लम्बी चोटियाँ उसकी कमर तक झूला करती हैं। वह सादी सूती सलवार और कमीज़ पहनती है और उसकी दाहिनी कलाई मे सिखों का कडा हमेशा पड़ा रहता है।

कवल उत्तर प्रदेश के अमरीकी वुडस्टाक स्कूल में पढ़ चुकी थी। वहाँ वह फ्राक पहना करती थी। वही उसने अमरीकी बोलचाल के शब्द भी सीखे थे। जब दिल्ली में मेरी उससे भेंट हुई थी, तब वह बेफिक्र पश्चिमी रंग की किशोरी थी। उसने अमृतसर में पढने के लिए दिल्ली पब्लिक स्कूल मुझसे पहले ही छोड दिया था। अमृतसर ठेठ भारतीय नगर है। उसने आसानी से यहाँ के सादगीभरे जीवन को अपना लिया और उसे ही पसन्द करने लगी।

जब मैं कवल के यहाँ थी, तब वह डाक्टरी पढने के लिए आवश्यक प्राथमिक शिक्षा ग्रहण कर रही थी। उसने हाल में मुझे लिखा है:—

मैं सशस्त्र सेना के साथ रजिस्ट्रीशुदा नर्स की ट्रेनिंग से प्रशिक्षा लेने की तैयारी कर रही हूँ। मेरे परिवारवाले अब भी चाहते हैं कि मैं डाक्टरी पढ़ूँ। लेकिन मेरा खयाल है कि जब तक अच्छे परिवारों की लड़कियाँ नर्सिंग का पेशा नहीं अपनायेंगी, तब तक इस देश में यह पेशा ऊपर नहीं उठ सकेगा।

एक और पत्र में उसने लिखा है:—

.....भारत को पूर्ण उन्नति करने के लिए इतना काम करना है कि वह विशाल-कार्य पूर्णतया असम्भव जान पड़ता है। फिर भी हम धीरे-धीरे किन्तु निश्चयपूर्वक प्रगति कर रहे हैं। मेरी बड़ी कामना है कि एक दिन मैं भारत की जनता की, अपनी जनता की, हमारी जनता की ज्यादा से ज्यादा सेवा कर सकूँ।

कवल की सादगी-भरी दिनचर्या सूरज की पहली किरण फूटने के साथ ५ बजे के पहले ही शुरू हो जाती थी। लगभग साढ़े सात बजे या कुछ पहले हम पराठे और दूध का नाश्ता करते थे। आठ बजे कवल स्कूल चली जाती थी और उसके मामा-मामी और मौसा-मौसी काम पर चले जाते थे। दोपहर का खाना लगभग डेढ़ बजे सभी के घर लौट आने पर होता था। वह खाना बड़ा पौष्टिक होता था और शायद इसी भोजन ने पंजाबियों की गिनती भारत के सबसे स्वस्थ व्यक्तियों में करवायी है।

खाने में हमेशा बहुत सारे फल, सब्जियाँ, दूध, दही और गेहूँ की एक विशेष प्रकार की सफेद रोटी रहती थी। मैंने और परिवार वालों के साथ चपातियाँ, पराठे और पूड़ियाँ खायी थीं। यह रोटी इन सबसे बड़ी होती थी और पकाई भी दूसरे ढंग से जाती थी। खाना बड़ा स्वादिष्ट होता था और मैं बिना किसी हिचक के भरपेट भोजन करती थी।

भोजन के बाद कवल और मैं दोपहर ढलने तक सोते थे या बातें करते थे। फिर दूध, बिस्कुट या मिठाई का नाश्ता करके हम या तो डाक्टरी के स्कूल के मन्दिर को चल देते थे या कोई मैच देखने या सिर्फ घूमने-फिरने। रात को नौ बजे खाना खाने के समय तक हम लौट आते थे। फिर कवल अपनी पढ़ाई करती थी और मैं भी कुछ पढ़ने बैठ जाती थी। कभी हम सिलाई करती या बातें भी करती थीं और लगभग ग्यारह बजे सो जाती थीं। हम छत पर सोतीं, जहाँ नींद खूब अच्छी आती थी।

अमृतसर में मैं ज्यादा न ठहर सकी। फिर भी मैंने उस पुराने और भीड़-भाड़वाले नगर का कुछ हिस्सा देखा; विश्वविद्यालय और प्राइवेट कालेज देखे, और सिखों का दरबार साहब देखा जिस पर सिखों को गर्व है। इसके गुम्बज पर सोना चढ़ा हुआ है, इसलिए इसे 'स्वर्ण-मन्दिर' भी कहते हैं।

मेरे भारत से चले आने के बाद कवल ने मुझे अपने नगर के बारे में लिखा—

अमृतसर अधिकांश नगरों से भिन्न है। नृत्यों और रात गये तक के आमोद-प्रमोद आदि का कृत्रिम सामाजिक जीवन यहाँ नहीं है। यहाँ के सारे वातावरण में और विशेषतया दरबार साहब के वातावरण में शान्ति और सौम्यता है। अमृतसर के लोग बड़े धार्मिक हैं, परन्तु धार्मिक पागलपन उनमें नहीं है। और तुम जानती ही हो, जहाँ विश्वास रहता है, वहीं प्रेम और सुख का निवास होता है। ऐसे हैं हम लोग, सिन्थिया, यहाँ! और शायद सारे भारत में। मेरा खयाल है कि जब तक हम लोग पश्चिमी देशों की नकल नहीं करते तब तक ऐसे ही रहेंगे।

अमृतसर पंजाब प्रान्त के उस उत्तर-पश्चिमी भाग में है, जिसे अब पूर्वी पंजाब कहते हैं; और वह पाकिस्तान की हद से दूर नहीं है। अब अधिकांश सिख यहाँ पूर्वी पंजाब में बस गये हैं। उनके दस गुरुओं में से नौ गुरुओं ने यहाँ और पश्चिमी पंजाब में, जो अब पाकिस्तान में है, जन्म लिया और अपने धर्म का उपदेश दिया।

सिख-धर्म के अनुयायियों की संख्या साठ लाख है। यह धर्म उत्तर भारत में ज्यादा फैला हुआ है, खास कर पंजाब और दिल्ली में। वास्तव में यह हिन्दू धर्म की शाखा है और इस्लाम तथा ईसाई धर्म से कुछ मिलता-जुलता है। कवल के शब्दों में, "सब धर्मों की जिन बातों को हम अच्छा मानते हैं, उन्हें हमने ग्रहण किया है।" सिखों के ग्रंथ साहब में अनेक धर्मों के गुरुओं और सन्तों की वाणी में भगवान् की स्तुति की गयी है।

गुरु नानक ने, जिनका जीवन-काल सन् १५०० के लगभग का है—भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के उस समय के रीति-रिवाजों के विरुद्ध यह धर्म चलाया था। उन्होंने किसी नये धर्म का उपदेश नहीं दिया, केवल विभिन्न धर्मों के लोगों में भाईचारे के लिए आग्रह किया। उन्होंने कहा—"प्रत्येक धर्म के सन्तों से प्रेम करो; सिर मुड़ाकर नहीं, लम्बी-लम्बी प्रार्थनाओं से नहीं, भजनों और शारीरिक कष्टों से नहीं, संन्यासियों के मार्ग से नहीं, किन्तु संसार के आकर्षणों के बीच अच्छाई और पवित्रता के जीवन से।"

उन्होंने हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया—"जात-पाँत निरर्थक है। ईश्वर मनुष्य से उसका जन्म नहीं पूछेगा; वह उससे पूछेगा, उसने क्या कर्म किये।" उनकी वाणी उनके एक ईश्वरवादी होने का प्रमाण देती है—"ईश्वर एक है, जिसका नाम सत है। वही स्रष्टा है; भय और राग-द्वेष से रहित, अजर-अमर, अजन्मा, स्वयंसिद्ध, विराट् और कृपालु है।"

गुरु नानक के विश्वास जब नये धर्म के आधार के रूप में स्थापित हो गये तो बाद में वही आडम्बर, जिसका उन्होंने जोरों से विरोध किया था, उनमें घुस आया। आज कट्टर सिख के लिए जरूरी है कि वह केश न कटाये, कड़ा धारण करे, कृपाण रखे (भले ही वह नाममात्र को इंच भर की हो !), कंघा लगाये (यह भी भले हो नन्हा-सा—बालों में होना चाहिए) और कच्छा पहने। घर के बाहर और पूजा की जगहों में अपने सिर को ढँके रखना उनके लिए आवश्यक है। सिख अपने लम्बे बालों में कंघी करते हैं और उनपर साफ़ा बाँधते हैं जैसा कि कवल के मौसा और मामा करते थे।

एक दिन मैं, कवल, उसके मौसा और मौसी के साथ रात को दरबार साहब गयी। दरबार साहब सिखों का और बहुत-से ग़ैर-सिखों का भी तीर्थ-स्थान है। सिख धर्म पहले-पहल इसी के चारों ओर पनपा और फला-फूला।

मन्दिर का भवन बहुत बड़ा है और पानी से भरे एक तालाब के बीचो-बीच स्थित है। लेकिन मुझे उसकी विशालता ने प्रभावित नहीं किया। मैं प्रभावित हुई उन भक्तों के श्रद्धापूर्ण भावों से, जो वेदी को घेरे हुए थे। सिर ढँक कर हम एक छज्जे के फर्श पर बैठ गये और वाणियाँ सुनते रहे। छज्जे से वेदी साफ़ दिखायी देती थी। पूजा करनेवाले आते थे और चले जाते थे। उनका ताँता लगा था। मन्दिर में आ कर सिख घुटने टेक कर फ़र्श पर मत्था टेकते हैं। वेदी पर ग्रंथ साहब का पाठ होता रहता है और भक्त वेदी की परिक्रमा करते हैं; इच्छा हो तो रुक कर वाणियाँ भी सुनते हैं।

हम बहुत देर बैठे रहे। किन्तु समय कैसे बीत गया, इसका पता ही नहीं चला। मेरी कभी-कभी इच्छा होती है कि काश मैं इस समय अमृतसर में होती ताकि हर रोज़ रात को जाकर मन्दिर में बैठ पाती।

मैं मन्दिरों में पहले भी गयी थी, लेकिन उनमें से किसी-किसी में ही मैंने शान्ति और भक्ति के ऐसे वातावरण का अनुभव किया था। कलकत्ते में मुझे ऐसी ही, किन्तु कुछ कम अंश की, पावन भावना का अनुभव हुआ था। उस मन्दिर में बड़ी भीड़ थी और गंदगी भी। भगवती काली की उसमें पूजा होती थी। हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय काली को पूजता है। भक्त देवी की मूर्ति पर फूल और पैसे चढ़ाते थे। कुछ लोग उनके सामने बैठ कर भजन करते थे और कुछ मानो समाधिस्थ हो जाते थे। पूजा करने वाले अपनी इच्छा के अनुसार

आते-जाते और पूजा करते थे।

कलकत्ते का एक और मन्दिर भी हमने देखा। वह बिलकुल साफ-सुथरा और सुन्दर मन्दिर जैनों का था। जैन छोटा-सा सम्प्रदाय है। परन्तु अपनी धर्म-परायणता के लिए भारत मे प्रसिद्ध हैं। ये लोग पूर्ण अहिंसा और अपरिग्रह में विश्वास करते है। छोटे-से-छोटे जीव की हत्या करना भी पाप समझते हैं। कुछ कट्टर जैन अपनी नाक और मुँह को कपड़े से ढँके रहते हैं ताकि सांस लेने से कीटाणुओ की हत्या न हो। उनके मन्दिर की दीवारें, फर्श और छत कटे हुए शीशे और संगमरमर से मडित थी। मन्दिर बड़ा नही था, लेकिन सुन्दरता में मैंने पूजा का कोई स्थल उसके जैसा नही देखा।

अपनी नेपाल-यात्रा में हमने हिन्दुओ और बौद्धों के अनेक मन्दिर देखे। शुरु में इस पहाडी देश के लोग हिन्दू थे। ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में भारत के एक महान् राजा सम्राट अशोक ने अपने देश से पहाडों के पार यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। कुछ ही समय में नेपाल की अधिकांश जनता बौद्ध हो गयी। अब यद्यपि दोनो धर्मों हिन्दू और बौद्ध का बहुत-कुछ सम्मिश्रण हो गया है, फिर भी ज्यादातर लोगो ने फिर से हिन्दू धर्म अपना लिया है।

एक रोज़ सुबह हम लोग मोटर से स्वयभूनाथ के मन्दिर की तलहटी तक गये और लगभग छः सौ सीढ़ियाँ चढ़ कर मन्दिर में पहुँचे। नेपाल में यह बौद्धों का सबसे प्रसिद्ध मन्दिर है। इस मन्दिर में तिब्बतवासियो का एक मठ है। तिब्बत से लोग इसकी यात्रा करने आते हैं। हमें इसमें प्रवेश करने दिया गया।

छोटे-से मुख्य प्रार्थनागृह में काफी अंधेरा था। लगभग बारह भिक्षु फर्श पर दो पंक्तियों में बैठे थे। उनके सामने बडी-बड़ी खुले हुए पन्नो की पवित्र पुस्तकें रखी थी जिनमें से वे पाठ कर रहे थे। भिन्न-भिन्न उतार-चढ़ाव की बारह ध्वनियाँ मधुर तो नह थीं, परन्तु आनन्ददायिनी अवश्य थी।

नेपाल और भारत के दूसरे मन्दिरों की तरह इस मन्दिर में भी एक छोटा-सा कक्ष था, जिसकी दीवारों पर बुद्ध की जीवनी के कुछ चित्र बने थे। (दूसरे मन्दिरो में ये चित्र उन देवताओं से सम्बन्धित थे जिनके कि वे मन्दिर थे।) मन्दिर के इस कक्ष में बुद्ध के चित्रो के अतिरिक्त एक और आश्चर्यजनक चित्र था—बुद्ध, क्रॉस पर चढ़े हुए ईसा और गांधीजी का—जिस पर शीर्षक था "मानवता की सेवा।" सभी धर्मों के सम्बन्ध में संसार को यह एक शिक्षा थी।

जून का एक सुहावना दिन था। जब मैंने कवल और अपने इस नये परिवार के हर सदस्य, नरनारी से लगा कर नौकर तक से अन्तिम बार "सत् श्री अकाल" कह कर विदा ली, तब मेरा गला भर आया। मेरे मन में उस वक्त यही कामना थी कि फिर शीघ्र ही हमारा मिलन हो। आशीर्वाद और उपदेश से भरे नानी के अन्तिम शब्द थे—"खूब पढ़ो। ज्यादा विद्या पाओ।"

उन्नीस

घर से विदा

जून का अन्त जल्दी—बहुत जल्दी आ गया। मेरा जहाज जुलाई के शुरू में रवाना होने वाला था। रवानगी की तारीख की सूचना अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनी से किसी भी दिन आने को थी।

शनिवार, २० जून को तीसरे पहर में अहाते में अंग्रेजी पढ़ा रही थी। रामदास मेरी गोद में बैठा था। तभी शकूर ने मुझे घर में बुलाया। मेरा टेलिफोन था, जो अमेरिकन एक्सप्रेस ने किया था। मेरा जहाज २ जुलाई को मार्सेल्ज, फ्रान्स के लिए रवाना होनेवाला था। जिनोआ, इटली से दूसरा जहाज पकड़कर मैं जुलाई के आखिर में न्यूयॉर्क पहुँच सकती थी।

अगले दिन सुबह अपने मित्रों से आखिरी बार विदा लेकर मैं बम्बई की गाड़ी में सवार हुई। दिल्ली मेरा घर था। उससे और उसके लोगों से बिछुड़ने का मुझे बड़ा दुख हुआ।

बम्बई के रास्ते में मैंने एक दिन के लिए एक पारसी परिवार के साथ, जो मेरे काश्मीर के मेजबान-परिवार का मित्र था, ठहरने की योजना बनायी थी। उस परिवार का घर बम्बई राज्य के मराठी-भाषी उत्तर-पूर्वी भाग में, हैदराबाद की सीमा से लगे हुए नगर जलगांव में था।

दोपहर ढलने के बाद दक्षिण-पश्चिम जानेवाली मेरी गाड़ी ने विन्ध्याचल के वीरान इलाके में प्रवेश किया। अगले दिन सुबह झुटपुटे में हम जलगांव पहुँचे। लगभग मेरी उम्र का एक लड़का और एक लड़की मुझे लेने स्टेशन आये थे।

दोनो मेरे मेज़बान के बच्चे थे।

इस पारसी परिवार के साथ दिन बड़े आनन्द से गुजरा। मेरे मेज़बान, जो कुटुम्ब के पिता थे, पहले शराब की दुकान चलाया करते थे। बम्बई राज्य में शराब-बन्दी लागू हो जाने से उनका व्यापार बन्द हो गया था। उनकी दुकान की इमारत को तब होटल का रूप दिया जा रहा था।

परिवार के सभी सदस्य थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी बोलते थे। उनकी भाषा मराठी थी, जो हिन्दी से मिलती-जुलती भाषा है। उनका धर्म पारसी था। पारसी पैगम्बर ज़रदुश्त के अनुयायी हैं। ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व जरदुश्त ने ईरान में अपना मत चलाया था। उसी मत के ये लोग थे। अत्याचारो के कारण इन लोगों ने भागकर भारत के मैत्रीपूर्ण वातावरण मे शरण ली और पारसी सम्प्रदाय स्थापित किया। आज यह छोटा सा सम्प्रदाय मुख्यतया बम्बई क्षेत्र में बसा हुआ है।

अधिकांश पारसी खूब पढ़े-लिखे हैं और पश्चिमी ढंग अपना चुके हैं। अनेक सफल व्यापारी हैं। पारसी पुरुषो का पहनावा बिलकुल अलग है। मैंने बम्बई में जो पारसी देखे—वे कोट, पतलून और एक खास तरह की गोल टोपी पहने और हाथ में छडी लिए एक खास शान के लोग दिखायी देते थे।

बरसात का मौसम अभी दिल्ली में तो शुरू नही हुआ था, लेकिन बम्बई में जारी हो गया था। उत्तरी हैदराबाद की अनेक छोटी-छोटी नदियों में बाढ आ रही थी। मैं और मेरे मेजबान साइकिलो पर जलगाँव के बाहर आठ मील का रास्ता तय करके एक ऐसी ही नदी देखने गये। गाडियो के पार होने के लिए नदी के बीच, कुछ उठी सड़क-सी बनी थी। साधारण समय में इससे काम चल सकता था, लेकिन बरसात के दिनो में वहाँ तीन फुट तक पानी चढ आता था। जब हम वहाँ पहुँचे, तब चौबीस घंटे पड़े रहने के बाद कुछ लारियाँ और बसें पुल पार कर रही थीं; बहुत-सी अभी खड़ी ही थी। पार आनेवाली गाड़ियाँ तेज़ बहाव में धीरे-धीरे आगे बढ रही थीं। उनके पहिये लगभग पानी में डूबे हुए थे।

हमारी तरफ से दो किसानो ने लगभग आठ गायें और कुछ बछड़े पार ले जाने के लिए नदी में उतारे। उनमें आधे से ज्यादा पानी की धार में बह चले और थोड़ी देर बाद कुछ इस किनारे लगे, कुछ उस किनारे।

मेरे मेज़बान ने मुझसे कहा—"तीन महीने की गर्मी के बाद बरसात का

उत्सुकता से इन्तजार किया जाता है। किन्तु साधारणतया बरसात सूखी नदियों को तूफानी नदियाँ बना देती हैं और बम्बई नगर के पास के नीचाई वाले भू-भाग में बाढ़ ला देती है। यहाँ लगभग हर रोज पानी बरसता है और डेढ़ महीने का बारिश का मौसम खत्म होने से पहले-पहले यह नदी तथा इस क्षेत्र की ऐसी दूसरी नदियाँ पानी से लबरेज हो जायंगी। फिर भी वसन्त में शायद सूखा ही पड़ेगा।"

मेरे मेजबान की लड़की—पेरीन ने मुझे जलगांव घुमाया। आने बड़े शहर की सभी सुविधाएँ इस नगर में हैं। औरतों और बच्चों का एक पार्क है; एक सिनेमाघर है और बाजारों में जरूरत की सभी चीजें मिलती हैं। नगर में कपड़े की दो मिलें हैं। इनमें से एक पेरीन के घर के सामने ही है।

पेरीन की छोटी बहन जलगांव की प्राथमिक शाला में पढ़ती थी। इस प्राथमिक शाला के अतिरिक्त नगर में एक माध्यमिक शाला है, एक सरकारी और एक गैर-सरकारी हाईस्कूल है और एक कृषि-विद्यालय है। तीन बजे के लगभग स्कूलों की छुट्टी होने से सड़कों पर बच्चों की भीड़ हो जाती थी। कहीं छोटे-छोटे बच्चे एक-दूसरे का हाथ थामे चले जाते थे। कहीं बच्चे भागते-दौड़ते, एक-दूसरे से छेड़-छाड़ करते निकलते थे। नाक-नुथरी किशोरियों के हाथ में किताबों के मोटे-मोटे बस्ते रहते थे।

दोपहर का भोजन करके पेरीन और मैं सड़क की भीड़-भाड़ देखने के लिए मकान की दूसरी मंजिल के छज्जे पर जा पहुँची। गुजरनेवालों में ज्यादा लोग मराठी थे। नौ-नौ गज की हरी, लाल, नीली या बैंगनी साड़ियाँ लांग के साथ बांधे हुए कुछ औरतें पेरीन ने मुझे दिखायीं। बड़ी आजादी के साथ वे चली जा रही थीं। उन्होंने जिस ढंग से साड़ियाँ बांध रखी थीं, वह दिल्ली की औरतों के ढंग से जुदा था, और उतना सुन्दर भी नहीं था।

कुछ गुजराती महिलाएं भी थीं। उन्होंने छः-छः गज की साड़ियाँ एक तीसरे ही तरीके से बांध रखी थीं। उत्तर मध्यभारत की मारवाड़ी औरतें जबर्दस्ती घूँघट निकाले हुए थीं और खूब जेवर पहने थीं। वर्तमान पश्चिम पाकिस्तान के दक्षिणतम भागों से आयी हुईं सिंधी महिलाओं ने पर्दा छोड़ दिया है, परन्तु उनकी दादियों को कठोर पर्दे में रहना पड़ता था। ये महिलाएं पंजाबी औरतों की-सी सलवार व कमीज से तुरन्त पहचान ली जाती थीं।

पुरुषों के पहनावे से उनके प्रान्त का ऐसा साफ़ पता नही चलता था। कभी-कभी कोई पारसी या कट्टर अहिंसावादी जैन सम्प्रदाय का कोई सदस्य नंगे पैर गुज़र जाता था।

रात के भोजन के कुछ देर बाद मैं बम्बई की गाडी में सवार हुई और सुबह तड़के ही बम्बई के एक उपनगर, दादर में पहुँच गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय रहन-सहन के प्रयोग (एक्सपेरिमेण्ट इन इंटरनेशनल लिविंग) के द्वारा मैंने अपने जहाज़ के रवाना होने तक एक गुजराती दम्पति के यहाँ ठहरने का इन्तज़ाम कर लिया था। ये दम्पति दादर के पास बम्बई के एक और उपनगर माटुंगा में रहते थे। कई फ़्लैटों वाली एक इमारत में तीन कमरों का एक फ़्लैट उनका घर था।

अपने इन नये मित्रो से मिलते ही मुझे इसमें तो कोई सन्देह नही रहा कि मुझे अपने यहाँ रखने में उन्हे बडी खुशी है। मालती बहन सुन्दर और हँसमुख महिला है। घर का कामकाज करने और रसोई बनाने के अलावा वह एम. ए. में अर्थ-शास्त्र की छात्रा है। उसके पति नवयुवक वकील हैं और बम्बई के उच्च-न्यायालय में वकालत करते हैं।

बम्बई में गर्मी के कारण काम और स्कूल का समय ग्यारह बजे सुबह से लगभग सात बजे शाम तक रहता है। इसलिए मालती और उसके पति की दिनचर्या उन अधिकांश परिवारो से भिन्न थी, जिनके साथ मैं अब तक रही थी। वे रोज़ सुबह छः बजे थोड़ा-सा दूध पीते या कुछ फल खाते। फिर मालती भोजन बनाती। उसके पति दस बजे काम पर जाते थे और हम लोग इसके पहले ही भोजन कर लेते। जिन दिनो मैं मालती के यहाँ थी, उन दिनों उसकी क्लासें नही लग रही थी। इसलिए भोजन करके हम अक्सर बम्बई के दर्शनीय स्थान देखने या मालती के मित्रो और सम्बन्धियो से मिलने-जुलने या खरीदारी करने निकल जाते थे। पाँच बजे हम जहाँ भी होते, वहाँ ज़रा डट कर चाय पीते और फिर घर लौट आते ताकि मालती खाना बना ले।

खाना बडा स्वादिष्ट होता था। मुझे जब भी मौका मिलता, मैं उसका खाना पकाना देखा करती थी और उससे मैंने कई बातें सीखी। वह और उसके पति पक्के शाकाहारी हैं। वे अंडे भी नही खाते। मालती गुजराती हिन्दू है और उसके

पति कट्टर जैन परिवार के हैं। मालती ने मुझे बताया कि रसोईघर के तिलचट्टे (कॉक्रोच) मारने की अनुमति भी उसने अपने पति से काफी बहस के बाद प्राप्त की।

क्षेत्रफल और आबादी के लिहाज से बम्बई भारत का दूसरा बड़ा नगर है। किसी विशेष वर्ग के लोगो का क्षेत्रीय नगर यह नहीं है; बल्कि गुजराती-भाषी प्रदेश की दक्षिणी और बम्बई तथा हैदराबाद राज्यों के मराठी-भाषी प्रदेश की पश्चिमी और उत्तरी सीमा है। अधिकांश आबादी गुजराती और मराठी-भाषी लोगों की है। लेकिन बम्बई में कई दूसरी भाषाएँ बोलनेवाले, कई धर्मों के और कई प्रान्तो के लोग रहते हैं।

विभाजन के बाद बम्बई ने विस्थापितों का हृदय से स्वागत किया और अब उसकी सड़को की भीड़-भाड़ में सिन्धी, हिन्दू और सिख-पंजाबी भी अपने दक्षिणी भाइयों के साथ कधा मिला कर चलते हैं। मध्य भारत से मारवाड़ियों और उत्तर प्रदेश के ग्रामीणो के, जो यहाँ काम की तलाश में आये, छोटे-छोटे समुदाय हैं।

बम्बई में पजाबी आपको ट्रको और बसो को चलाते हुए तथा गैरेजों में मैकेनिको का काम करते हुए मिलेंगे। यहाँ का मजदूर-वर्ग, जिसका अधिकांश बम्बई की अनेक कपडा मिलों में नियुक्त हैं और बम्बई का बुद्धिजीवी वर्ग—लेखक, शिक्षक और विद्वान्—मुख्यतया मराठी हैं। अधिकांश दुकानें और व्यापार गुजरातियो और पारसियो के हाथ में हैं।

विभाजन के समय भयंकर दगे होने के बावजूद बहुत-से मुसलमान बम्बई में बसे हुए हैं। ज्यादातर पारसी यही रहते हैं। कुछ ईसाई और सिख भी हैं, जैसे कि भारत के हर नगर में पाये जाते हैं।

नगर की भीड-भाड वाली सडको पर भिन्न-भिन्न तरह के रीति-रिवाज और पहनावे वाले तथा भाषाएँ बोलने वाले इतने लोग गुजरते हैं कि उनकी चहल-पहल देखते ही बनती है। लेकिन आपको यह पता नहीं लगेगा कि इस विशाल देश के किस भाग में आप आ गये हैं।

बम्बई में जनसाधारण की भाषा हिन्दुस्तानी है। राष्ट्रभाषा होने के कारण इसने इस नगर में भी, जो हिन्दुस्तानी-भाषी क्षेत्र नहीं है—यह स्थान प्राप्त किया है। ट्रामो और बड़ी-बड़ी दो-मंजिली बसो में, जिनमें मालती के साथ मैं

इधर-उधर आया-जाया करती थी—कण्डक्टर किराया हिन्दुस्तानी में माँगते थे। ज्यादातर दुकानों में दुकानदार से मोल-तोल हिन्दुस्तानी में होता था। और उस भीड-भाड़ वाले बाजार में, जहाँ से मालती रोज़ घर लौटते वक्त संध्या के भोजन के लिए शाक-भाजी ख़रीदती थी, चीज़ो का भाव-ताव हिन्दुस्तानी के द्वारा ही होता था।

मालती और उसके पति ने मेरी बडी आवभगत की। मुझे नगर की दिलचस्प चाजें दिखाने के लिए उन्होंने जो कष्ट किया, उसके लिए हमेशा मै उनकी आभारी रहूँगी। हम लोगों का सयोग एक सप्ताह से ज़रा ही ज्यादा समय के लिए हुआ; फिर भी मुझे लगा कि भारत से विदा होने में शोक और हर्ष का जो मिला-जुला अनुभव मुझे हो रहा था, उसे वह अच्छी तरह समझ गयी। मुझे ख़ुशी थी कि भारत में मेरा अन्तिम सप्ताह उनके साथ बीता।

मगलवार, २ जुलाई की सुबह बडी सुहावनी थी; ऐसी सुहावनी जिसकी कि मुझे बरसात के दिनो में हर्गिज आशा नही थी। मैंने सोचा मुझे भारत में सूर्योदय देखने का अवसर फिर कब मिलेगा ?

दस बजे मै बन्दरगाह पर पहुँच गयी ताकि एक बजे जहाज़ के रवाना होने तक मै आम सरकारी कार्यवाहियों से छुट्टी पा जाऊँ। अपने पासपोर्ट की जाँच कराने के लिए कतार मे खड़े होकर मै अपना दु ख भूल गयी। अब सबसे ज्यादा मुझे उस अनिश्चित भविष्य के प्रति शका थी। जहाज़ के सफर की लम्बी-लम्बी घड़ियो में मुझे बार-बार खयाल आया कि इस शका की तह मे भारत से विदा होने का मेरा गहन शोक छिपा था उस देश से विदा होने का, जहाँ मैंने बहुत-कुछ सीखा था, और जिसके लोगो के प्रति मेरे हृदय में अपनत्व की भावना घर कर गयी थी। लेकिन विदाई के क्षणों में मैं न तो उसे स्पष्ट समझ सकी थी, न व्यक्त ही कर सकी थी।

दोपहर को, मैं उस विशाल ब्रिटिश जलपोत में सवार हुई। एक बजने के थोड़ी देर बाद बन्दरगाह में रास्ता साफ हो गया और जहाज धीरे-धीरे अरब-सागर में चल पड़ा। मैं चुपचाप टकटकी लगाकर बम्बई का किनारा तब तक देखती रही, जब तक कि वह आँखो से ओझल नही हो गया।

बीस

उपसंहार

मैं भारत को अपना दूसरा घर मानती हूँ। एडेवड्स के अतिरिक्त केवल वही मुझे प्रबल रूप से अपनत्व का अनुभव हुआ। मुझे आशा है कि एक दिन कालेज की पढ़ाई पूरी करके और जन-स्वास्थ्य परिचारिका की विशेष प्रशिक्षा प्राप्त कर मैं अपने दूसरे घर लौटूंगी।

एक दिन जब मैंने सुमन से भारत और भारत के लोगों के प्रति अपने स्नेह की बात कही, तो वह मुझसे बोली—"तुम अभी छोटी हो और इस उम्र में सब चाहते हैं कि कोई उन्हें प्यार करे; उन्हें लगे कि किसी को उनकी जरूरत है, कोई उनकी क़द्र करता है। हमने तुम्हें अपना बनाया और तुम्हें प्यार किया। हमने अपने घरों में तुम्हारा स्वागत किया। डविन अस्पताल और परिचर्या-गृह में तुम्हारी आवश्यकता थी और तुम्हारी क़द्र की गयी। मैं पूछती हूँ कि तुम्हारा लगाव सचमुच भारत से है या प्यार और क़द्र की उस भावना से, जो हमने तुम्हारे प्रति दिखायी।"

मैं समझती हूँ कि भारत के लिए मेरा प्रेम उन लोगों के प्रति आभार की भावना मात्र नहीं है, जिन्होंने मेरे प्रति आत्मीय-सा व्यवहार किया।

संभवतः मेरे इस आकर्षण का मुख्य कारण वह सरल जीवन है, जिसका मैंने दिल्ली, चावला, शान्तिनिकेतन, मढ़ेरा, फ़तहपुर, बरख़ुरदारपुर, नंगल और अमृतसर में अनुभव किया।

उसका कुछ भाग उस सौंदर्य और अनेकरूपता से जुड़ा है, जो मैंने अपने आसपास, खास कर गाँवों में देखी।

कुछ भाग उस प्रशंसा से जुड़ा है, जो मेरे मन में यह देख कर जागी कि यह देश अपने देशवासियों को एक सुन्दरतर जीवन की ओर ले जाने को कृत-संकल्प है।

परन्तु उसका मुख्य भाग जुड़ा है—सुमन, शकूर, नन्दिनी, कवल तथा ऐसे अनेक दूसरे मित्रों से। इन मैत्रियों से मैंने यह तो सीखा ही कि पूर्व और

पश्चिम का मिलन संभव है। यह भी समझा कि भारत की लड़की और अमरीका की लड़की में इतना अंतर नहीं होता जैसा कि अक्सर सोच लिया जाता है। मैंने अनुभव किया कि अपने अंतर की गहराइयों में मेरे मित्र और मैं बहुत-कुछ समान ही हैं।

क्या यह वात सभी लोगों के लिए सही नही है? मुझे तो लगता है कि लोगों के वीच अंतर केवल ऊपरी सतह का होता है। हमारा रंग, हमारी भापा, हमारा भोजन, हमारा पहनावा आदि का अन्तर केवल वाहरी वातों में होता है।

सांस्कृतिक स्तर पर भी हममें अन्तर है। भारत और अमरीका में जीवन की शैली भिन्न-भिन्न है। उनके काम के तरीक़े अलग हैं, उनके खेल अलग हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा और कृषि के अमरीकी माप फ़िलहाल भारत पर लागू नही हो सकते। यहाँ तक कि एक संस्कृति के आंतरिक सत्य—उसके भले और वुरे—के मापदंड दूसरी संस्कृति के मूल्यांकन में व्यवहृत नही हो सकते।

अक्सर ये वाहरी दिखावे के अन्तर, रहन-सहन और काम-काज के ही नही, सोचने-विचारने के भी विभिन्न तरीक़े और मापदण्ड आपसी सम्पर्क, समझ-वूझ और मैत्री के मार्ग में अपरिमेय वाधाओं का रूप धारण कर लेते हैं। किन्तु इस भौतिक तथ्य के अतिरिक्त कि हम सव मानव हैं, क्या कोई ऐसी अधिक महत्वपूर्ण चीज़ नही है, जिसमें दुनिया के सभी लोग अपनी-अपनी विभिन्न संस्कृतियों के उपरांत भी वरावरी के हिस्सेदार हैं? क्या कुछ सर्वव्यापी दृष्टिकोण और भावनाएँ ऐसी नहीं हैं, जो हम सवके लिए समान हैं? क्या एक ऐसी महान और मूलभूत समानता विद्यमान नहीं है, जो संसार के लोगो के भेदों से कही ज्यादा महत्त्वपूर्ण है?

मुझे लगता है कि वह अवश्य है, और मुझे विश्वास है कि उसी के आधार पर, सांस्कृतिक सीमाएँ पार करके सच्ची मैत्री की स्थापना की जा सकती है।

इस वात का ज्ञान और इसकी चेतना कि मानव जाति के अंतरस्थ स्वप्न लगभग समान ही हैं, विश्व में पारस्परिक समझ और सहानुभूति को प्रगाढ़ वनाने में वड़ी सहायक हो सकती है। एक दूसरे को समझने से मित्रता उपजती है, और मित्रता ही शान्ति की धात्री वनेगी—ऐसा हमारा अविचल विश्वास है।
